THE BOOK WAS DRENCHED

UNIVERSAL
LIBRARY

OU_180555

UNIVERSAL
LIBRARY

सूरदास

लेखक
राजा राधिकारमण प्रसाद सिंह, एम० ए०

अशोक प्रेस
महेन्द्रू : : पटना

प्रकाशक—
श्री राजराजेश्वरी साहित्य-मन्दिर,
सूर्यपुरा (शाहाबाद)
तथा
महेन्द्र, पटना

पंचम संस्करण, १९५५

मूल्य २॥।)

मुद्रक—
श्री अशर्फी राय शर्मा
अशोक प्रेस
पटना—६

अर्पण

श्री

शिवपूजनजी

को

सूरदास

यह कहानी कुछ कल्पना नहीं, जीवन की एक घटना है। हाँ, उस सादी ज़मीन की किनारी पर एक मनचली क़लम की मौज ने कुछ बेल-बूटे उगा दिए तो फिर अचरज क्या? वह क़लम ही तो है! वह तो जिधर मुड़ती है, उधर एक समाँ उठा कर ही छोड़ती है।

आज बीसों बरस बाद इस बीती-बिसरी बात पर रोशनी डाल दुनिया से दाद माँगना हमारी हिमाक़त तो जरूर दिखती है। जाने कितना गंगा का पानी पुल के तले से बह चुका। आप कहेंगे भी कि इस प्रगति के बाज़ार में कहाँ की एक पुरानी सड़ी-बुसी चीज़ हम लाए हैं डालियाँ लगाने—आज तो ज़माने का रुख देखकर कोई नया चटपटा तैयार होता तो कोई चाव से अपनाता भी।

—। जी, यह पुरानी तो जरूर है पर खता माफ़! दिल

की जिस गहरी उमड़न की यह तसवीर है वह तो जिस पट पर खिंचकर आएगी, उसी पर खुलकर रहेगी।

मगर इस कहानी का एक और दिलचस्प पहलू है। वह है अंधों की दुनिया की एक निराली झाँकी। आखिर हम आँख रखकर भी अंधों को कहाँ तक देख पाते हैं! उनकी उलझन अलग है, हमारी अलग! मगर अजब शुदनी! एक बार हमें उनकी उस दुनिया की हलकी-सी झाँकी मिल गई। जभी तो हमने पाया कि प्रकृति की जादूनज़री उनकी ज़िन्दगी की अँधियारी पर बड़े ढब से रोशनी बिखेरती है। हमने देखा कि आँख के अंधे होने से किसी की दुनिया अँधेरी नहीं होती, न वह खुद ही दुनिया से अंधा होता है। वह बूझकर बझे या बझकर बूझे, उसे बझना जरूरी है।

सूर्य्यपुरा
२३—३—४२

राधिकारमण प्रसाद सिंह

वैसे तो कहने-सुनने को शरीर का राजा कोई परदानशीं मन रहा करे, मगर जाहिरा तो डंके की चोट तूती बोलती है आँखों की ही। मन की ताबेदारी तो दूर रहे, मन पर भी सुलतानी चलती है इनकी। ऐसी बेजोड़ हैं ये आँखें! ऐसी अनमोल हैं ये आँखें! जभी तो हमें लगता है कि जिसने दुनिया में आकर दुनिया नहीं देखी, वह अभागा यहाँ आया ही क्यों? आ भी गया, तो ठहरा क्यों? और जो दस दिन दुनिया देख फिर आँखें खो बैठा, वह जन्म का अंधा ही क्यों न हुआ? उसकी तरस के बराबर दुनिया में कोई तरस होगी?

मगर हाय रे जीवन का मोह! जीते हैं दोनों। आँख न मिली तो भी, आँख खो गई तो भी! .....

भगवन्! क्या जीना है यह! ऐसे जीने के ही लिए जीना!

यों जीते तो हैं संडास के कीड़े भी। रेंग-रूँग कर अपनी मियाद की मंजिलें पूरी कर देते हैं वे भी।

ओफ़! कैसी प्रबल है यह जीने की भूख! न सही आँख, न सही कान, न सही ज़बान, पर साँस तो है! वह है तो सब कुछ है।

जो हो, मुझे तो बराबर गड़ा है कि आँख की कमी इस ज़िन्दगी की सबसे दर्दनाक कमी है। कमी क्या, वह भी कोई ज़िन्दगी है। उसे सूली की सेज कहें या अँगार की?

हम आँख रखकर इस आँख की भूख का अन्दाज़ चाहे न कर पायें या आँखें मूँद कर दिल की बेकली पर पर्दा डाल रखें, पर जब एक आँख का अंधा लाठी टेकता हुआ सामने से गुजरता है तो ऐसा कौन छाती का पोढ़ है जिसके होंठ बरबस लरज़ नहीं उठते—'बिचारा, रह गया यों ही।'

हम जानते हैं कि आदमी सब कुछ सह लेता है—रोकर सहे या गाकर। फिर भी बर्दाश्त की भी कोई हद है! काश, वह अरमानों की राख कुरेद-कुरेदकर एक भी ऐसी जीती-जागती चिनगी चुन पाता, जिसे ताप-तापकर उसकी ठिठुरी हुई आत्मा पनाह पाती!

आखिर किस दिल की लालसाएँ लहूलुहान नहीं होतीं? मगर ख़ता माफ़! पामाल होना और है, जान से बेज़ार होना और।

मगर उस दिन सूरदास को जो देखा तो मेरे अचरज की सीमा न रही। कोई आँखवाला वैसा मस्त-मौला क्या होगा? वाह री दरियादिली! कहीं भी कोई शिकायत नहीं; किसी के विरुद्ध कोई अभियोग नहीं! काश, ईश्वर में वैसी हमारी भी आस्था होती! उसका सर्वस्व है राम और बस, राम! जब सुनो, तब राम नाम; जब देखो, तब राम का ध्यान। दोनों जून पसीने की रोटी मिलती रहे, राम-भजन की रति बनी रहे—और बस, पाँचों उँगलियाँ घी में हैं!

एक दिन मेरे एक मित्र ने छेड़कर पूछा—"तुम आठो पहर राम का नाम तो लेते हो, वह तुम्हें आँख देगा?"

सूरदास ने जरा भौं तरेर कर कहा—"कैसी आँख? चाम-वाली? माफ़ कीजिए, उस आँख का मैं भूखा नहीं···भूखा उसके स्नेह का!"

"ऐसे सनेही वे होते तो तुम्हारी आँख लेते?"

"राम कहिये! मेरी आँख लेकर वह क्या करेगा?"

"तो फिर?"

"फिर क्या—जैसी करनी, वैसी, भरनी!"

"पोंगापंथियों की सी बात! क्या किया था तुमने?"

"अच्छा पूछ रहे हैं आप! जैसे कि किसी को बीते जनमों की खबर ही रहती है!"

मनमरा तो कभी उसे पाया ही नहीं। घी के दीये जलते

रहते उसके चेहरे पर। कभी राम का भजन, कभी राम की चर्चा, कभी 'जय सियाराम, जय-जय सियाराम'।

और तो और, वह राम की कृपा का यहाँ तक क़ायल है कि अंधा होना भी उसकी निगाह में देवता का एक आशीर्वाद ही है। वह अंधा न होता तो जीवन के चरम-लक्ष्य की ओर मुड़ने की सुविधा भी न होती!

एक दिन मैंने ऊबकर टोका—"क्या बेकार रट लगाये हो सूरदास? तुम्हारे राम ने तो तुम्हें कहीं का न रखा!"

"सो कैसे मालिक? वही तो मेरो इस झाँझर नैया का खेवनहार है।"

"मगर नाव जो रह गई झाँझर।"

"झाँझर ही सही, पार उतार दे तो बुरी क्या?"

अच्छा कह रहे हो! आँखें खुली रहतीं तो तुम खुद खे लेते न! यों तो जाने किस घाट लगेगी।"

"ना-ना सरकार! गुरु महाराज तो कहते रहे कि आँख न होना एक लिहाज से अच्छा ही हुआ—आँखों के उत्पात से तो बचे! यों तो जाने कहाँ-कहाँ टक्कर लेतीं!"

"यह खूब! दुनिया अंधी रहेगी तो हकीक़त देख पाएगी?"

"और क्या मालिक! आँख रहते किसी की आँख खुल पाती है?—वह तो अंधी को अंधी ही रह जाती है।"

"सो कैसे?"

"वह ऐसे कि इन आँखों का क्या एतबार ? आँखों के चलते भगवान के दर्शन भी कभी नसीब होने को हैं ? जब आँखों के सामने आठो पहर रूप का चस्का है, तो फिर मन का रुख किधर होगा—भगवान की ओर ? हुआ है किसी का ऐसा ?"

और मैं हँस पड़ा—'या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्त्ति संयमी।'

तो क्या हम जहाँ सोते हैं, वहाँ ये अंधे जागते हैं ? हम आँख की वजह संसार में लिप्त हैं और ये आँख न होने से अलिप्त ? हमारी आसक्ति की असली सीढ़ी है यह आँख ? तो क्या आँखों की बहिर्मुखी चेष्टा जाती रही तो हृदय की अन्तर्दृष्टि खुल पड़ी ? इसकी गारंटी ?

आखिर जिसे आँख नहीं है, उसे कान तो है, जबान तो है ! रूप न सही--स्वर क्या कम है, रस क्या कम है, स्पर्श क्या कम है ? क्या आँखों में छाये बगैर यह बेहया दुनिया दिल में समा नहीं पाती ? क्या किसी की उलझन के लिए आँखों में आँख पड़ना जरूरी है ?

सूरदास के आँखों के अंधे होने पर जब किसी ने चुटकी ली तो वह ऐसा मुँहतोड़ जवाब दे बैठता कि बस !—"आँखें तो उसकी गईं साहब, जो अंधाधुंध दुनिया की रंगरलियाँ देखता रह गया ! इस दुनिया से अंधा होना तो पलकों का खुलना है ! आखिर इन इन्द्रियों की फाँस से जितना ही संग

छूटा रहे, उतना ही, बकौल गुरु महाराज, किसी के असंग होने में सुविधा होगी।"

मैं फिर लगा सोचने—तो क्या आँख का अंधा होकर यह सचमुच दुनिया से अंधा हो गया है ? उसे इस लोक की माया की मोहनी छू भी नहीं पाती ?

भगवान जाने, उसकी आँखों की ज्योति कायम रहती, तो उसके जीवन के प्रवाह की दिशा किधर होती—लोक की ओर या परलोक की ओर ! यह तो निश्चित है कि दुनिया की ललचाई निगाहें उस पर टूटकर जातीं—चूँकि दृष्टि की कमी के सिवा उसकी शक्ल या डीलडौल में कहीं और कोई बल नहीं था। वह सलोनी शक्ल—ऐसे तने पुट्ठे कि वाह !

राम की चर्चा तो खैर, एक ऐसे बेबस की जिन्दगी की जरूरी खुराक है। यह आठो पहर भक्ति की पिनक न हो तो वह साँस की फाँस में तड़फड़ा कर अकड़ जाय। इसे छोड़िए। मगर उठते-बैठते आचार की पाबन्दियों की भरमार से वह साथ रहने-वालों की नाक में दम कर देता। कभी किसी से टकरा गया या कभी कहीं किसी से छू गया, तो अपने तरीके से शुद्धि किए बगैर उसे खैर नहीं। वैष्णव-विधि-निषेधों की एक लम्बी तालिका बराबर उसकी उँगलियों पर थी। क्या ग्राह्य है, क्या त्याज्य; क्या पुण्य, क्या पाप; क्या लोक, क्या परलोक; क्या हलाल, क्या हराम—ये तमाम मसले उसके दिल और दिमाग पर युत्थ बाँध

कर जम गये थे। गुरु महाराज ने उसकी उगलियाँ धर जिस पटरी पर लाकर खड़ा कर दिया, उसपर उसने न आव देखा, न ताव, न दायें देखा, न बायें—बस, नाक की सीध में आँख मूँद और सीना तान चलने पर तैयार हो गया। और वाह रे जीवट! उसे जीवन में उतार कर धर देने में उसने कभी आना-कानी न की। मगर हाँ, एक अपढ़-उजड्ड के दिमाग के दायरे में विधि-निषेधों की इस कसरत की लदाई कहाँ तक हज्म हो पाती! वह शायद अपने ही बोझ से पिसने लगा हो, तो अचरज नहीं।

अगर कभी किसी ने छेड़कर पूछा कि "अबे पागल, यह तेरी तमाम पद्धति किस मर्ज की दवा होगी, जब अनुभूति तो जगी नहीं! आखिर कभी सोचा भी है तुमने कि धर्म का मर्म क्या है?"—तो वह उसी तैश से जवाब देता—"साहब, यह 'क्यों और कैसे' तो हम-जैसे के लिए नहीं, हम से परे है। हम ठहरे हुक्मी बन्दे। हमारे लिए तो नियमों का पालन है, उसकी छानबीन नहीं।"

❀ ❀ ❀ ❀

सूरदास का मकान कुछ दूर दिहात में है। उसका चचा बुलाकी हमारे यहाँ चौकीदार है। उसे गाँव छोड़ यहाँ आए मुद्दत हो गई। गाँव के पड़ोस में साधु का एक मठ है। सूरदास की माता उसी मठ पर दूध-दही देती रही। थी भी बड़ी

भगतिन। साधु की सेवा में दसो नख जोड़े रहती। राम की भक्ति उसी संयोग से पनपी।

सूरदास का घर का नाम मुरारी रहा। बचपन में ही वह आँखें खो बैठा पर माता की उँगली धरे मठ के मन्दिर की अपनाई राम-जानकी की युगल छबि उसकी आँखों में बसी रही।

दो साल बाद माता उठ गयी तो उसका जी बैठ गया। घर लगा काटने। कोई चारा न देख साधु बाबा के मठ पर आकर जम गया। डूबते को एक सहारा था यह। आठो पहर भजन-कीर्त्तन के वायुमण्डल में उसे तसल्ली भी मिली, दिलचस्पी भी। नई लगन, नई धुन।

साधु बाबा उस पर कृपा रखते। वैष्णव की दीक्षा दे उसे अपना लिया। राम की भक्ति का पुट देकर उसके सूने जीवन को भर दिया। दुनिया की रंगीनियाँ न मिलीं तो क्या, अगर राम की शरण मिल गई! और राम की लगन मिल गई, तो फिर शरीर लेने की मुराद मिल गई। आँख गई तो गई, आँख पर का परदा तो उठ गया। दिल रौशन है, तो फिर दुनिया की रोशनी का क्या मोल? उसके सर पर मुसीबत नहीं आई, रहमत आई। किस आँखवाले को यह निर्माल्य नसीब है? आँखें तो जाने किस मोह के बाजार में उसके मन का दामन खींच ले जातीं—कभी मयस्सर होते राम के दर्शन, कभी मिल पाता सत्संग का जीवन! रह जाता वह औरों की तरह घास छीलता,

भैंस चराता। भूलकर भी कभी परमार्थ की ओर रुख होता उसका ? वही विष की बेलि कामिनी आती; वही बेटा-बेटी, वही दाल-रोटी और वही दुनियादारी की गन्दी गली।

सूरदास अघा गया। उसका रोआँ-रोआँ भर उठा। उसकी आँखें फूटतीं नहीं, तो यों खुलतीं नहीं—यही बात बस गई।

साधु-समाज में रहकर वह काफी अँखफोर हो गया। वही बँधी-सधी बोली, वही आचार की पाबन्दी। चेहरे पर उग आई एक क्षमा, सुन्दर शांति। राम की सेवा तो नस-नस में भिन गई।

मगर वे घी के दीये चिर-दिन जलने न पाये। बैठे-बिठाये आसमान ने रंग बदला। उसे मझधार में छोड़ गुरु महाराज चल बसे। रह गया वह पत्थर पर सर पीटता। जिस आश्रय की छाँह में वह फूला-फला था, वह दो पल में मिट गया।

गद्दी के लिए चली तनातनी। हक़ तो था सूरदास का ज़रूर, मगर साधुओं के सामने उसकी सुनता कौन ? सब हँस देते—'मेढ़ की भी देखा-देखी नाल बँधाने को टाँग उठाने चली !' वह तो यों ही था गुरु महाराज का एक खिलौना !

उसे गद्दी की भूख भी न थी। शेखी तो एक बूँद भी न थी उसमें कि वह भी कोई है। वह जितने में था, उतने में ही सिमट कर मस्त था। राम की ड्योढ़ी की बंदगी बनी रहे और बस। इसी दर पर वह पल कर जवान हुआ। उसका गुज़र तो कहीं और नहीं।

माँ-बाप तो जाने कभी गुजर चुके थे। बस, एक चचा बच रहा था। वह भी बरसों से कभी इधर झाँकने भी नहीं आया। और, उसके जीवन की दिशा भी बिलकुल अलग थी। साधु-समाज से कोसों दूर।

नये मठाधीश के तौर-तरीके कुछ निराले थे। संन्यासी तो खैर, वह थे ही, मगर नीमचढ़ा करैला—दुनियादारी भी काफ़ी थी उनके ख़मीर में। परलोक का चिन्तन और मठ का संचालन—कुछ ऐसी दुरंगी थी उनकी मनोवृत्ति कि एक के साथ दूसरा भी निभ जाता।

उन्होंने देखा कि सूरदास को भगवान का दिया गला है, वह मजे का भजन गा लेता है और दही पर चीनी यह कि वह अंधा भी है। जहाँ जाकर दो भजन गा सुनाएगा, लोग खिंच आएँगे उसके गले की काकली पर और फिर अंधा देख तरस खाएँगे उसकी ज़िन्दगी की बेबसी पर। लोगों की ज़बान पर वाह के साथ-साथ आह भी होगी। उसका चेहरा भी है भोला-भाला। उस पर जब जिसकी नज़र जाएगी, वह भींगी नहीं तो करुणा में पगी तो ज़रूर होगी।

सूरदास को कब पता था कि उसके जीवन की विफलता की तह में उसकी जीविका की सफलता छिपी है! पुराने मठाधीश ने उसकी आँखों के अंधेपन को परमार्थ का सोपान ठहराया था; नये मठाधीश ने उसे रोज़गार का एक साधन समझा।

उन्हें यह फ़िक्र पड़ी कि इसके मत्थे कुछ पैदा किया जाय। हाँ, इसे रोज़गार के लिए लैस करना होगा। सर पर रामनामे की चादर, गले में तुलसी की माला, माथे पर वैष्णवी फटाका, हाथ में खँजड़ी, वगैरह-वगैरह। इतनी समझ उनको थी कि घर का योगी जोगड़ा, बन का योगी सिद्ध। यहाँ इस सड़े-बुसे गाँव में तो कुछ आमदनी होने की नहीं। शहर नजदीक है प्रयाग। वहीं त्रिवेणी के तट पर वह बैठे। मठ का एक साधु देख-रेख के लिए काफ़ी है। दिन भर खँजड़ी बजा-बजाकर भीख माँगता फिरे—चिराग़ जलते-जलते मठ पर वापस आ जाय। तीन-चार मील का फासला कोई फासला नहीं। मेले-ठेले के वक्त खासी रक़म हाथ आ सकती है। यों तो बेकार बैठे वह मठ की रोटियाँ तोड़ रहा है। कहाँ का अंधा—न साधु, न बैरागी। ऐसे तो वह अपना पेट भी पाल लेगा और जिस मठ ने उसे पाल-पोसकर सयाना किया, उसका भी भला होगा! हाँ, कुछ चलती धुन की चीजें उसे याद कर लेनी हैं।

सूरदास के सामने जब यह प्रस्ताव रखा गया, तो उसके हाथ के तोते उड़ गये। कहाँ आठो पहर राम-जानकी की सेवा, कहाँ गली-गली घूमकर भिखमंगी का पेशा! इस दर-दर की भिखमंगी से तो मौत भी सस्ती है!

पर बिचारा इनकार किस मुँह से करता? वह ठहरा मठ का नमकख़्वार! नए साधु बाबा कुछ वैसे मुलायम न थे कि उसे बैठे-

बिठाये रोटियाँ बरबाद करने दें और आटे-दाल का भाव भी न बताएँ। रोने-गाने का कोई नतीजा न था। पड़ा था एक कड़ियल का पाला।

बस मटरगश्ती चली। 'जय सियाराम' की पुकार से यह शुरू होती और 'दाता की जय' पर खत्म होती। नये-नये घाट का पानी पीना, नई-नई गली की खाक फाँकना। किसी साथी के कंधे पर हाथ रखे कौड़ी कोस की दौर। लू में जला, पानी में भींगा और सर्दी में ठिठुरा, पर ड्यूटी की पाबन्दी में कभी कमी न आई। राम की सेवा छूट गई। सत्संग की चर्चा मिट गई। एकादशी भी गई। रामनवमी भी गई। मठ पर लौटे वह महंथ की जूतियाँ सीधी करे या अपनी कमर सीधी करे। दिन की दौड़-धूप, रात की थकान—किसी पल कल नहीं।

हाँ, दो की खुराक जुगाकर दो-चार पैसे मठ को भी आने लगे। उससे भगवान के भोग-राग में कुछ सुभीता होता रहा। सूरदास कहीं हाथ-पैर तोड़ बैठ गया तो राम-जानकी की फाका-कशी की जिम्मेवारी की तलवार बराबर उसके सर पर तनी थी।

इसी मटरगश्ती में एक दिन चचा बुलाकी से भेंट हो गई। लहू का नाता, वह रो पड़ा। कहीं दो मुट्ठी चावल का ठिकाना हो जाता तो वह इस दिन-रात के धूल फाँकने से नजात पाता। बुलाकी ने कहा—'चलो, मालिक को एक पंखाकश की तलाश है। रोटी-दाल तो मिलेगी ही, पाँच रुपये तनख्वाह के भी

मिलेंगे। कोठी के पिछवाड़े भगवान का मन्दिर भी है। भजन-पूजन भी मजे में निभेगा !'

सूरदास की यह इंतजाम जँच गया। पसीने की रोटी और साथ-साथ राम की सेवा की खुशनसीबी ! पंखे से जब छुट्टी रहेगी तब राम की बन्दगी भी होगी। और, चार महीने जाड़े के दिन तो अपने होंगे।

मठवालों ने चीं-चपड़ की। सूरदास मुश्किल में पड़ा। आखिर तनख्वाह की आधी रक़म महीने-महीने मठ की भेंट की ठहरी। यों अतीत के टाँके टूटते-टूटते बच गये। उसे दो घड़ी की फुरसत मिली—मठ के नमक की अदाकारी भी रही।

मुझे यह अक्सर चुभता है कि अंधों के जीने के लिए कोई भी धंधा तो चाहिए। भीख माँग कर पेट पालना तो सरासर तोता पालना है—साँस का भार ढोना। यह घुट-घुटकर मरना नहीं तो क्या है? मगर जब आँख ही न रही तो फिर किसी रोज़गार का ज़रिया हो तो क्या हो? वह है भी दुनिया के किसी काम का?

बस, एक पंखाकुली का काम वह मजे में कर लेता है। किसी आँखवाले से अच्छा ही करता है—चूँकि आँखें उसके मनोयोग को भटका नहीं पातीं।

आज बिजली का पंखा क्या आया, ग़रीबों की रोटी पर बिजली गिरी। जो हो, मुझे तो आदत है झालरों की मीठी हवा की। बिजली की तीखी हवा मुझे नहीं सुहाती। और मैंने अपने

पंखे पर भरसक अंधों को रखना बराबर पसन्द किया है। उससे एक सुभीता भी है। कुतूहली निगाहों से नजात मिली। दरवाजे पर किसी चिलमन की जरूरत नहीं—कोठरी में सोया तो, सायबान में सोया तो। अन्दर और बाहर बराबर!

हमारे यहाँ दो पंखाकुली जमाने से थे। एक औरत, एक मर्द। सुखिया और मँगरू।

सुखिया तो यों ही थी—खोगीर की भरती। जीती लाश, किसी दिन किनारे जा लगती। नाम तो था सुखिया, पर उससे बढ़कर कोई दुखिया न होगी। बेचारी गूँगी थी, अनाथ। चौके में खाती और एकाध घंटे पंखे की डोरी थाम लेती। मिट्ठू माली की कोई लगती रही वह। उसी ने कह-सुनकर उसे रखवा दिया था।

मँगरू था बूढ़ा। एक ही काहिल। दिन में तो खैर, दो चार घंटे खट लेता, रात की ड्यूटी उसे छठी का दूध याद करा देती। और वही खटन थी करारी! अलबत्ता सूरदास बड़ा कर्रा निकला। जवान था ही, कसदार भी था। न सही काफी हँसमुख और मिलनसार, मिहनती और नमकहलाल तो खूब निकला। लोग उसे बेलौस समझते चूँकि किसी की लगी-लिपटी रखने की लत ही न थी उसकी।

कुछ ही दिनों में वह काफ़ी हिलमिल गया। जब आया था, तो काँटे की तरह देह थी उसकी। मन की चैन जो मिली तो

चिकना उठा। निचोड़े हुए नींबू की तरह गाल, फिर खिल उठे।

उसे रात की ड्यूटी पसन्द थी—कहता—'अंधे के लिए रात ही दिन है।' विविध कोलाहलों की वजह दिन में वह उखड़ा-सा रहता है—उसे चैन नहीं मिलती। रात उसे प्यारी लगती है—वह अपनी खाल में ही मस्त रह पाता है। जभी तो वह दिन में सोना चाहता है, रात में जागना!

उसे गुलफुल देख मुझे काफी कुतूहल होता। अजब है यह आदमी! जिन्दगी की आँख गायब—कभी कोई मनोरंजन नसीब नहीं। फिर भी चेहरे पर एक शिकन तक नहीं। जब देखो तब उल्लास के आँकड़े मौजूद। कैसा हरा-भरा चेहरा कैसी शान्त-गम्भीर चेष्टा!

जब रात में नींद नहीं आती, तब अक्सर सूरदास की शरण लेता—'हाँ भाई, कुछ गाओ तो!'

और, वह लगता खाँसी में गुनगुनाने। सूर और तुलसी के सैकड़ों भजन उसकी उँगलियों पर थे। कभी पुराण की कोई कथा छेड़ बैठता, कभी गुरु महराज की चर्चा।

एक दिन मैंने उसके चचा से छेड़ा—"अच्छा, बुलाकी सूरदास का ब्याह हो जाय तो कैसा हो?"

बुलाकी तो कुछ कह नहीं पाया, चट सूरदास बोल उठा—"तो वह कहीं का नहीं रहेगा, सरकार!"

"क्यों?"

"आँख का अंधा हुआ तो, खैर, वैसी तबाही नहीं मगर अक्ल का अंधा हुआ तो बस, सब कुछ गया। लोक तो गया ही है, परलोक भी डूब जायगा!"

"तो क्या अंधे का ब्याह मना है?"

"सरकार! बेल में रस भरा तो काग का क्या? हम ठहरे ब्रह्मचारी। गुरु महराज तो कह गये हैं कि 'सूरदास, औरत को दूर से ही प्रणाम करो। वह गले की फाँस है। छूना मत। उसे गले लगाना है तो फिर राम की लगन नहीं बनेगी।"

"अरे भाई, जब दुनिया में आया है, तब कुछ लिये-दिये जा! यों सूना जाना है तो फिर इस मरने-जीने की गली में आया ही क्यों? आखिर—मयखाने मे आया है तो दो घूँट पिए जा!"

"यह 'लिये-दिये जा' क्या मालिक?"

वह लगा कान खड़े कर मेरी बात की रीढ़ ढूँढ़ने!

"सुनो सूरदास! आदमी का दिल कुछ लिये और कुछ दिये बगैर टिक नहीं सकता। एक ओर कहीं उसे दिल उड़ेल देना है तो दूसरी ओर से जी भर लेना। यही जीवन की माँग है। हमारी जिन्दगी की तह में रस की इस लेन-देन की रविश न होगी तो फिर हम जिये क्या खाक?"

सूरदास एक छन चुप रहा। फिर एक फीकी हँसी होठों पर लपेट कर बोला—"मालिक! अगर राम की लगन लग गई,

तो फिर दुनिया का क्या लेना और क्या देना ! और नहीं, तो फिर कहीं नेह का नाता जोड़ा तो क्या, नहीं जोड़ा तो क्या !"

और वह कुछ इस तरह हँसा जैसे हमने कहाँ की एक भोंदी बात उसके सामने पेश की हो। वह क्या कोई ऐसा-वैसा है कि सब की तरह ऐसी दुनियादारी की चाशनी में रस लेता फिरे ! राम कहिये, उसने दिल की वैसी लालसाओं पर तुलसी-दल रख, जाने कभी उन्हें अपने प्रभु को भेंट कर दिया है। संभव है, उसने यह समझा कि हमारी बन्दिश उसके दिल टटोलने की थी, इसीलिये उसे जता देना है कि सूरदास अपने राम का भक्त दिखाऊ नहीं, टिकाऊ है।

आखिर अंधों की लगन का क्या कहना ! किसी को लौ लगते-लगते तो लगती है, इन्हें लगी नहीं कि लग गई। जहाँ आँख मूँद कूद गये, वहाँ गड़-से गये।

इसकी वजह है। किसी साधना के पथ पर हमारी आँखें हैं रोड़े—चूँकि आँख जब जिधर मुड़ी, उधर दिल भी साथ ले गयी। जभी तो दुनिया की रंगीनियों पर दिल न जाने देना अंधों के लिये सहल है--आँखवालों के लिये मुश्किल। मिल्टन कभी अपने जीवन का 'मिशन' पूरा कर पाता, अगर आँख फूटने का अभाग्य उसे दुनिया से विमुख होने का सौभाग्य न देता ?

सूरदास ने जिस अलौकिक लीला का जलवा देखा और जिस खूबी से उस अरूप की शान को कल्पना के घाट उतार

वे रूप और रस के लोक में खींच लाये, वह चमत्कार कितने आँखवालों को मयस्सर है ?

दृश्य का लोप होना कुछ अदृश्य के रहस्य का उघरना चाहे न हो, पर उस अतीन्द्रिय सत्ता की ओर झुकने का सुभीता तो जरूर है।

सूरदास को अपने जीवन की इस रुझान पर नाज़ होना जरूरी है। आँख भी तो नहीं कि घड़ी-घड़ी उस पर आघात आता ! भजन और सत्संग का दौर, रहा-पर-रहा चढ़ता रहा।

फिर भी जाने क्यों, मुझे रह-रह कर लगता कि आज न ऐसा दीखता है--पर क्या थाप, कहीं दिल ने चुटकी ली—यह मन का पैमाना छलक उठा, तो····?

बुलाकी हमारे यहाँ एक ज़माने से है। एक लम्बे क़द का खुर्राट सिकन्दर—चौड़ी छाती, शेर की गर्दन, बड़ी-बड़ी डरावनी आँखें, घनी-सुफेद मूछें। जवानी में वह एक तगड़ा लड़ैत ही नहीं, डकैत भी रहा। चोरों का सरदार। एक दिन देहात उसकी हुँकार पर थर्रे मारता रहा। पहलवानी की दुनिया में उसकी धाक काफी है। अखाड़े में उसकी दस्ती और मुलतानी, मैदान मे उसके हाथ की तमतमाती लाठी आज भी देहाती जीवन के चमत्कारों में एक ख़ास जगह रखती है।

वह सत्तर के पड़ोस में आकर भी दमखम में जवानों का चचा है। धज भी है उसकी निराली। इसका सारा शरीर बुढ़ापे की फिटकार, झुर्रियों और सिकुड़न से झाँझर हो चुका है, पर हड्डियों की हैंकड़ी और पेशियों की चौकसी सुपैदी

की पस्ती को थामे ज्यों-की-त्यों खड़ी है। छाती और भुजाओं पर घट्टों की मेड़ें किसी विप्लवी अतीत की निशानियाँ डंके की चोट देती हैं।

हाँ जितने दाग़ हैं, सब सामने के अंगों पर बहादुरी के तमगे बनकर साबूत हैं। पीठ की खाल साफ बेदाग़ पड़ी है। रीढ़ की हड्डी जैसे मूछों पर ताव देती हुई अकड़ी खड़ी है। आज भी जब वह चौपाल में बैठकर अंगों पर लगी हुई लाठी की चोटों के चिन्हों को गिन-गिन कर, सराह-सराह कर दिखाता है और कंधे से चादर खसका कर सूनी पीठ की सफाई पेश करता है, तो उठती कोपलों की तमाम लनतरानियाँ सुबह के चिराग़ की लौ-सी धूमिल हो जाती हैं। वह हँस कर कहता है—'देखी न तुमने पीठ ? यहाँ न कभी धूल लगी, न लाठी बजी। याद रहे, बुलाकी की पीठ देखनेवाला कोई माई का लाल धरती पर नहीं आया। कहीं दूध की सिंचाई रहती तो जवानी के अखाड़े में आज भी ताल ठोकता। अब तो हमारी आँख में न आग है, न बाँह में वेग। बस, दाँत पीसकर खीस पीता हूँ।'

उसके चेले-चाटी, ज़माना हुआ, मर-मिट गये और जिस गैंग का वह लीडर था, उस गिरोह के कितने मेम्बर जेल में गल-पच कर जाने कहाँ विलीन हो गये ! आज जब वह अपने कुल के दीपक सूरदास को एक भिखमंगे साधु के वेश में खँजड़ी

बजा-बजा कर, भवें नचा गाते देखता है, तो उसे लगता है कि चौपाल की दीवाल पर टँगी हुई गुप्ती और लोहबन्द लाठी अट्टहास भरती हुई उसकी मूछों के एक-एक बाल चुन लेने को दौड़ती है; और उसकी कमर में सुशोभित बजरंगबली की लंगोटी जैसे कि धज्जियों में उड़कर उसके तन पर कफन बन गई है।

आज तो बुलाकी अतीत की एक कहानी है, जो जवानों की टोली में एक चाव से कही जाती है, एक चाव से सुनी जाती है। वह तो चाहता है कि लोग उसे घेर कर बैठे रहें, उसके किस्से सुनें और घंटे-घंटे उसकी चिलम भरें। उसका दिल-बहलाव अब बीते दिनों की यादगार है। जवानी की जाँ-निसारी की तसवीरें फिरती रहती हैं उसकी आँखों में। बस, ज़रा-सा छेड़ दीजिये और सुनिए—

"चोर अगर लंगोट का सच्चा नहीं, तो चोर नहीं, हरामखोर है वह। बाप का बेटा नहीं, कुल का कलंक है। भाई, अब वह सत का युग नहीं रहा। जिधर देखो, उधर कलयुग व्याप गया है—कलयुग। सब पेशे में घुन लग गया है। डकैत तो वह है कि इस हाथ से जालिम मालदार से ले और उस हाथ से कंगाल को दे। उसे लोभ जगा, तो भाग सोया। उसे डूबते देर न होगी। हमारा उसूल तो बस, एक था—औरत की पत पर हाथ न उठाना, दुखिया के आँसू से हाथ न धोना।

हमारे वक्त चोरी कुछ हरामखोरी नहीं थी। हम उन्हीं को लूटकर लेते रहे, जो दस को जाल में फँसा कर लूटते हैं। कुछ न पूछो, कितने ज़ालिम साहूकार, ज़मींदार, ज़ालिम काश्तकार, --सबकी नानी मरी रहती थी। आज तो चोर चोरी नहीं करता, जुआ चोरी करता है, ग़रीब की जेब कतरता है, विधवा के गले की हँसली छीनता है। टाटी का चाँचर उठाकर ग़रीब की गुदड़ी नोंचता और हाँड़ी टटोलता है। राम-राम! सब पेशे पर गाज गिर पड़ी है। भरसक किसी को बरकत नहीं! डकैत पाकेटमार हो गया, वेश्या खानगी और पंडे-पुजारी दलाल। साधु-संन्यासी तो नाक तक नरक में डूबे हुए हैं!"

कि सूरदास बौखला कर कह उठता--'सुनो काका! पंडे-पुजारी--साधु-संन्यासी को ऐसा न कहो। उनसे तुम्हें कहाँ भेंट?"

"अरे बस कर! यह सब जटा-कटाका हाथी के दाँत हैं--दिखाने को, खाने को नहीं। ··हाँ भाई, तो आज भी वह भादो की रात नहीं भूलती, जिस रात हमने उस पैसे के पिस्सू जंगी साहूकार का खज़ाना डंके की चोट लूट लिया था। घर पर आधी रात तक हम ताज़िये की भीड़ में लकड़ी खेलते रहे। फिर बीसों जवानों ने दो घंटे में बीस मील का धावा बोल दिया। बरगद की डाल थाम उसके दुतल्ले बरामदे पर चढ़ गये। लोहे की सन्दूकों के ताले बात-की-बात में तोड़ डाले।

गहनों और मोहरों की पेटी कमर में बाँध ज्यों छत से आँगन में कूदे कि वह घमसान मुठभेड़ मची कि लहू के पनाले बह गए। गुन्नू और गुपुत तो वहीं खेत आ गये, मगर हम पलक मारते भीड़ चीर ऐसे निकले कि यह जा और वह जा—और, इधर पौ फटी, उधर गाँव में दाखिल! हाँ, आज दुनिया हम पर हँसती है तो हँसे। हमने लहू तो बहाया, मगर किसी का बूँद-बूँद लहू नहीं चूसा; हजारों के सर तोड़े, पर किसी का घर नहीं फोड़ा। कभी किसी को जाल में डाल उसके बच्चों के मुँह का आहार नहीं छीना। अब तो लुच्चे-लफंगे इस पेशे में आ गये। दुखिया के लहू में हाथ रँगे, और तो कुछ हाथ नहीं आया। किसी के न दिल है, न गुर्दा। न कोई कायदा रहा न कोई कानून। जो लंगोट-बन्द सच्चे खिलाड़ी हैं, वे अलग न होते तो अपनी आबरू गँवाते···?"

मैंने छेड़कर कहा—"अच्छा बुलाकी, आखिर तुम क्यों अलग हुए इस पेशे से? तुम्हारे चेले-चाटी तो सच्चे रहे!"

"सरकार! हमारे समझौते की दीवाल तो ऐसी पक्की थी कि एक ईंट भी नहीं खरकी। कौड़ी-कौड़ी का हिसाब दुरुस्त। सबका बराबर बाँट लग जाता। और जो बिचारे इस जीवट के मैदान में खेत आए, उनके बाल-बच्चों को बराबर भाग देता रहा।

"मगर मालिक, मेरा तो उस दिन जी खट्टा हो गया, जिस दिन मेरे अपने भाई, सूरदास के बाप, बिलासी ने डकैती के

हंगामे में डोमा कलाल की पतोहू की छाती पर हाथ रख दिया। औरत की चीख पर हमारी नजर जो मुड़ी, तो डोमा के मालखाने की जंजीर हाथ से छूट गई और हमने उलट कर भाई के कंधे पर पटे का हाथ मारा। उसका हाथ तो टूट गया, मगर हमने उसी दिन कंधे से लाठी उतार घर के कोने में रख दी और बस, इस कूचे से अपना बिस्तर लपेट लिया।

"सरकार, भाई को लाख समझाया—'सुनो बिलासी, एक तो उकैती का रोजगार ही तलवार की धार है, फिर तुमने कमर का लंगोट कसकर नहीं रखा तो फिर कमर टूटने में देर न होगी।' और हुआ भी वही। साल जाते-जाते वह रामू के दुतल्ले से पीठ पर बोकचा बाँध नीचे आँगन में जो कूदा—कमर और कूल्हे में लंगोटबन्द का कस तो था नहीं—बस, पैर उखड़ गये और वह सर के बल गच पर आ गया। वह तो यों गया, उसके बेटे की आँख महारानी के कोप से जाती रही। बाप न औरत पर आँख उठाता, न बेटे की आँख जाती। आग खाय तो अंगार उगले। सूरदास बच तो रहा है, मगर एक खुशहाल जवान बनकर नहीं—भिखमंगा फकीर बनकर। उसके बाप की नीयत घर की तमाम कमाई स्वाहा कर गई। वह कीचड़ में मुँह डाल दाँत से पैसे उठाता रहा। दिल में न दर्द था, न आँख में पानी। बटोरने के वक्त तो सबसे आगे और खतरे के वक्त सबसे पीछे। फिर बाँट-बखरे की बारी अपनी पेटी

अलग चुरा कर गाड़ आता। जभी तो उसे बरकत नहीं मिली! नैसा किया वह आँखों के आगे आया। उसकी न खेती फली, न रोटी चली। मैं तो उसे दाल की मक्खी की तरह निकाल फेंकता, पर क्या करता, अपना भाई जो था!"

बुलाकी की फबतियाँ आजकल के जवानों की नज़ाकत पर गहरी चोट करतीं। मिट्ठू माली ने अपने बेटे को स्कूल में बिठा दिया था। वह लगा था बाल काढ़ने, पैरों में जूतियाँ देने। बुलाकी उखड़ पड़ा। एक दिन हमसे कहने लगा—'सरकार! माली तो अपने बेटे को बाबू बना रहा है। हम लोग अपढ़-उजड्ड थे, मगर सर में आँख रही, छाती में दिल रहा, बाँह में कस। आज तो जवानों की नस-नस में रस भर गया है। छाती में छल है, बल नहीं। जब कहीं लोहे के चने चबाने पड़े, तो दाँत पटपटा के रह जायँ! बकौल दीनू खलीफ़ा सारी, उमर जो निगाह औरत के चिकने चेहरे की चाट पर पल आई, उसमें रूप की प्यास जो हो, कुछ आग की आँच न होगी। जो हाथ चोलियों का बन्द टटोलता रहा, वह तलवार की मूठ पर क्या जौहर दिखायेगा? हम पूछते हैं, पढ़-लिखकर किसी ने क्या पाया, अगर न उसकी बाहों में फुर्ती आई, न पेट में पेटी पड़ी और न आँखों में ज्योति। नई जवानी माँझा ढील! लँगोट तो बाँध न सका, धोती भी ढीली हो गई; मर्द तो बना नहीं जवानी भी पानी हो गई! कहाँ हल उठाता, कहाँ कलम उठाते

फिस हो गया ! कहाँ खेत जोतता, कहाँ कागज रँग रहा है ! जो अखाड़े में ताल ठोंकता, वह बेकारी में कपाल ठोंकता है ! हम जाहिल ही सही मगर काहिल तो नहीं। हमारे खून में गरमी थी—बदन में चुस्ती। तुमने किताबों को तो मथ डाला, पर धूप में कुम्हला पड़े। हवा मे उधियाने से बचे, तो सर्दिया गये। लाख पढ़-लिख होशियार हुए तो क्या, जब पापड़ बेलते उम्र कटी ! हाथ में छड़ी, सर पर बुलबुली, पैर में चट्टी यही वालीम की तरक्की है आज ! धोबी का कुत्ता न घर का, न घाट का। नौकरी मिली, तो दिमाग की पिसाई से जवानी गई; न मिली, तो घर की खेती भी गई; भीख की झोली भी पड़ी।"

यह सब तो खैर, बुढ़ापे की बकवास है। इन बातों के बघार से तो पेट नहीं भरता ! धुएँ के बादल उड़े और मिट गये। बुलाकी की माली हालत दिन-दिन गिरती चली आई। चार-पाँच बीघे खेत की बिसात ही क्या ? उस पर भी लगान कड़ा। सावाँ और बाजरा तो खाने के लिए रहा; गेहूँ और चना लगान चुकाने के लिए। पहले एकाध बीघे असींच ऊख को खेती थी—मकई की काफी उपज भी; मगर गंगा के कछार में जंगली सियारों से हिफ़ाजत नहीं होती।

आज तो बुलाकी कहीं का नहीं ! कभी लहू का घूँट पीता है, कभी आँसू का। हमारे यहाँ कोठी पर चौकीदारी न होती तो

जाने कभी अकड़ गई रहती उसकी ठठरी। बिचारा हर किसी से जली-कटी सुनता है कि जवानी में चोरी-डकैती कर उसने अपनी दीन-दुनिया डुबो दी। हराम की कमाई कभी किसी को फली है कि उसे फलेगी? वह अपने किये का फल चख रहा है—फल! जब जानकर उसने मक्खी निगली, तो फिर लहू उगलेगा कौन?

ग़रीब की बीवी सब की भाभी! जो है वही एक छींट उछाल देता है। और तो और, सूरदास भी काका को फटकार बताने से बाज नहीं आता—"तुमने चोरी की रोटी खाई है काका, तुम्हें कहाँ चैन?"

"भाई, मेरे मन में तो कभी चोरी नहीं थी। चोरी तो हमारी रोटी थी। असल बात तो यह है कि दुनिया में कोई भी सुखी नहीं रह सका है। जिसे खाने को है, उसे खिलाने को चाहिये। जिसे खाने को नहीं, उसे कमाने को चाहिये। हमारे घर रोटी है, तो हमें मोती की तलाश है। हमारे घर मोती है, तो इधर चोरी का डर है, उधर हीरे पर नज़र है। जब तक हमारे यहाँ दूध-दही की कमी न थी, तब तक हमारे सर मक्खन-मिसरी की धुन थी। और, आज जब रोटी के लाले पड़ रहे हैं तो भैंस के मट्ठे के लिए होंठ चाटते हैं।"

इतने में मिट्ठू ने छेड़कर पूछा—"तो दुनिया में कहीं भी सुख नहीं?"

बुलाकी ने माथा ठोककर कहा—"कहीं नहीं—कहीं नहीं मिट्ठू !"

सूरदास ने भृकुटी ज़रा टेढ़ी कर नहले पर दहला फेंका—"है क्यों नहीं ? वह तो राम की भक्ति में है—न रोटी में, न मोती में।"

❀ ❀ ❀ ❀

बुलाकी को पीने की लत है। जैसे कोई चाय पीए। कोई हर-हर, न पट-पट। न हंगामा, न तमाशा। इधर चिलम भरी, उधर प्याली ढली। कश पर कश। चुस्की पर चुस्की। चुक्कड़ और चिलम क्या थी, दामन और चोली थी। क़दम से क़दम मिलाये एक साथ। शाम हुई और यह दौर चला—रात की रोटी तक बराबर।

और, क्या कहना इस दौर का ! बोतल आई कि बुलाकी रंग में आया। लगा दिल अँगड़ाइयाँ लेने। जवानी भफारेबाज़ी की लड़ियाँ खुल पड़ीं। फिर चाहे-अनचाहे सुनिये वही सुनी-सुनाई दास्तान। यह मजाल नहीं कि उसकी आँखें चढ़ें या ज़बान लड़खड़ाए। वह कच्चे घड़े का तो पीता न था। न झड़प, न झिझक। बस, एक अन्दाज़ का सुर—एक गुलाबी सरूर।

वह रोज़मर्रे की अधबोतली उसके जीवन की किल्ली थी। यह गुलाबी न रहे, तो बुलाकी बुलाकी न रहे। उसकी नसों में न चुस्ती रहे, न फुर्ती। वह दिल खोल ऐलान करता कि बोतल

की शरण न लेता तो वह कहीं का नहीं रह पाता। जाने कभी गल-पच कर मर मिटा होता।

यह बोतल की यारी शायद मँगरू की सोहबत में पनपी। जवानी में मँगरू एक ही दिलफेंक था--जैसे कि अपनी हथेली पर दिल लिये फिरता हो—जहाँ चोटी-चुनरी की बहार देखी कि बस, चट नज़र कर दिया। यारबाशी तो थी ही, बोतलबाजी भी थी। था भी तकदीर का सिकन्दर। घर में बीबी रही तो क्या, जाने कहाँ से एक सोने की चिड़िया उड़ा लाया। इसी मुहल्ले में उसे रख छोड़ा। वह सोने के रंग के साथ-साथ सोने पर सुहागा— सोने का जेवर भी ले आई। फिर क्या किसी पर सोना बरसे तो यों बरसे!

महीने में एकाध दिन घर भी झाँक आता। खाबिन्द जब लगा दारू पीने, तब औरत को तो पीना बदा है आँसू। और चुक्कड़ पीते-पीते लगा किसी बेसवा के होठों का रस भी पीने, तब बहू बिचारी आँसू पीए कि लहू? मगर मँगरु की बहू की आँखों में न लहू था, न आँसू। उसकी माँग ही निराली थी। जी भरे या न भरे, माँग भरी रहे। हाथ खाली हैं तो क्या, हाथों में चूड़ियाँ काफ़ी हैं। उसे परवा न थी कि खाबिन्द कहाँ रम रहा है! वह कहीं भी रहे, खुशी से रहे--उसे और चाहिये ही क्या? और, होली या दिवाल की रात दो पल सुहाग पा गई तो निहाल हो गई।

इधर दोनों हाथ लड्डू। बीबी वफ़ादार। रखेली मालदार। और दोनों एक-दूसरे से कोसों दूर—किसी खटपट का अंदेशा नहीं।

जब तक वह कंचनी जीती रही, मँगरू ने बत्ती का टेम भी नहीं झाड़ा। चुक्कड़ भी रही, चौक की सैर भी—और आए-ग र दोस्तों के साथ दरियादिली की बानगी भी।

बुलाकी जब जवानी के उतार पर हर तरफ से लाचार किसी रोज़गार की तालाश में शहर आया, तो मँगरू ने महीनों अपने यहाँ रख उसे तसल्ली दी। रोटी तो दी ही, गुलाबी की चुस्की भी दी। पेट की जलन के साथ-साथ छाती की जलन भी ठंढी पड़ी।

मगर मुँह की लगी का दामन थामे एक दिल की लगी भी आती है। सुराही की माधुरी किसी नौजवानी की चाशनी भी ढूँढ़ती है। बस शराब की चाट ने रस-विलास के सोये चस्के को जगा दिया। जवानी में वह लंगोटबन्द लड़ैत था—ऐयाशी के कूचे में गया भी नहीं; मगर उठती जवानी जहाँ क़दम रखने में सिहरती-सहमती है, उतरती जवानी वहाँ मु ह बाये टूट कर जाती है। शहरी आबोहवा और एक रसिकराज की सोहबत—मन की रंगीनियों के खुल खेलने का ऐसा मौक़ा कहाँ मिलता!

❀ ❀ ❀

वह बहार का मौसम कभी गुजर चुका। अब न वह दिन

है, न वह रात। आज तो मँगरू कहीं का नहीं। एक तो बूढ़ा हो चला, दूसरे न बीवी रही, न रखेली। वह तबीयत है न दिल। जवानी की आरामतलबी बुढ़ापे में पस्ती बनकर फूटी। यह तो कहिये कि बुलाकी ने मेरे यहाँ कह-सुनकर उसे पंखे की ड्यूटी थमा दी, नहीं तो बिचारा भाड़ झोंकता।

वही मँगरू आज गिरता पड़ता भी बुलाकी का साथ देता है। चिलम भी भरता है, चुक्कड़ भी—और बुलाकी के हाँ-में-हाँ भी!

सूरदास के आते ही इस पीने-पिलाने पर शामत आ गई। कहाँ वह कट्टर वैष्णव, कहाँ यह चिखड़ा और चुक्कड़! वह तन गया। बुलाकी लगा सफ़ाई देने। वह ज़िन्दगी से ऐसा बेज़ार था कि अगर बोतल पनाह न देती, तो वह घुट-घुट कर दम तोड़ देता। क्या करे, आँसू पीए कि दारू? यह बेखुदी की तलाश थी जो बरबस उसे इस कूचे में खींच लाई, नहीं तो, राम कहिये, बुलाकी और बोतल? वह कुछ नशे की चाट से थोड़े ही पीता है! दो घूँट लेता है कि अपना दुखड़ा भूला रहे।

सूरदास पर यह झावली एक न चली। बोतल भी कभी किसी की दवा हो पाई है? अनाचार के साथ-साथ शरीर पर भी अत्याचार है यह। भला, ना-मुरादों के दर्ददिल का मलहम राम-भजन नहीं, चुक्कड़ और चिलम है? रघुवर की शरण न

लेकर बोतल की शरण ? शैतान से वफ़ा की उम्मीद ? हिंसक से करुणा की याचना ? यह जीते-जी दीन दुनिया दोनों की बर्बादी ?

सूरदास ने वह रंग बाँधा कि बुलाकी थर हो गया। तौबा करने के सिवा कोई चारा न था।

सूरदास ने चचा के गले में कण्ठी बाँध दी। राम-नाम का पाठ पढ़ाया। तुलसी की माला पड़ी। रामनामे की चादर आई। शाम का प्रोग्राम ही बदल गया। मँगरू अलग से यह तमाशा देखता और मेरे यहाँ आकर कहता कि बुलाकी के गले में फूल-माला डाल उसे बलि का बकरा बनाने की तैयारी है। वह न उगल पाता है, न निगल पाता है !

मैंने उस दिन बुलाकी के सर पर चन्दन और रोरी की खड़ी रेखा जो देखी तो हँसी आ गई। कहीं चुस्की का चस्का किसी वैष्णवी फटाका के रोब में आया है ?

जैसे-तैसे दो दिन बीते। जैसे बीते वैसे, राम कहिये, किसी के न बीतें ! राम-राम करते, कि हाय-हाय करते ! तीसरे दिन बुलाकी ने कमान रख दी। जाने कब खाट पर जा पड़ा। नाक से पानी, मुँह से राल। ऐसा लगा कि अब गिरा, तब गिरा। बदन की फुर्ती जाने कहाँ फुर्र हो गई। ऐसा मरियल-सा हो गया कि देखते डर लगता। मगर कोई लाख पूछे, वह कहे नहीं कि ऐसा क्यों हो रहा है !

सूरदास कुछ पहरे पर खड़ा तो न था, पर उसके कान बराबर खड़े थे—घर में रहे या बाहर। और, उसे आँख न हो, नाक तो थी! बोतल बचकर जाती तो कहाँ जाती!

दिन के चार बजते होंगे। सूरदास से सुना कि 'काका कल से खाट से रहे हैं। जाने क्या हो गया है। दूध तक नहीं छूते।'

"क्यों, आखिर बात क्या है?"

"क्या बताऊँ मालिक, एक छाती की धड़कन तो टनक है।"

"ठहरो, डाक्टर को बुलवा भेजता हूँ।"

किसी को तलाशने बाहर जो आया, तो देखा, कोठी के अन्दर मँगरू आ रहा है। वह दो दिन की छुट्टी पर था। उसे पुकार कर डाक्टर लाने को कहा, तो वह 'ज़रा देख तो लें!'—कहता हुआ सामने बुलाकी की कुटिया में घुस गया। मैंने भी समझा कि एक बार चलकर पूछ लेना मुनासिब है।

देखा—वह आँख बन्द किए खाट पर पड़ा है। रह-रह कर कराह उठता है। रह-रह कर करवट बदलता है।

मँगरू ने चट सिरहाने बैठ उसके सर को गोद में उठा लिया—"हाय राजा! यह कैसे?"

बुलाकी ने आँखें तो खोल दीं, पर मुँह न खोला।

"तो लाऊँ दो घूँट?"

"ना-ना, ऐसा भी कोई करता है? देखते नहीं···" और उसने गले की कंठी की ओर उँगली उठाई।

"अरे भाई, हम तुम्हें देखते हैं--तुम्हारी कंठी को नहीं ! दम धरो।"

और वह चुपके-से बाहर निकल आया।

मैं दरवाजे पर ही खड़ा था। वह बोला—"मालिक, डाक्टर क्या करेंगे ? उसकी दवा तो दारू है !"

"ऐसा ? मगर सूरदास तो कहता रहा कि उसके चचा अब पूरे···"

"वह क्या जाने प्यासे के दिल की पीर ? वह तो जानता है एक राम-नाम। कहीं बूढ़ा सुग्गा भी पोस मानता है ?"

मैं चुप हो गया। हाँ, बोतल की यारी कुछ वेश्या की यारी से कम करारी नहीं होती। किसी ने खूब कहा है कि—'छुटती नहीं है मुँह से यह काफ़िर लगी हुई !'

मँगरू दौड़ गया दवा की तलाश में और चटपट जाने कहाँ से एक अधबोतली गले की चादर के तले चुरा लाया।

मैंने ज़रा हँसकर छेड़ा—"यह ग़ज़ब क्या कर रहे हो ? उसके गले में कंठी जो है !"

"कहाँ की कंठी मालिक ! चला था तुलसी होने, रह गया कुकरौंधा का कुकरौंधा !"

ख़ैरियत थी, सूरदास उस घड़ी मौजूद न था। शायद पिछवाड़े मन्दिर पर गया होगा।

मँगरू बोतल लिए बुलाकी के पैताने आ डटा। मैंने झाँक

कर देखा कि उसने चादर की लपेट से ज्यों बोतल निकाली कि बुलाकी सिहर उठा। लगा उसे एक अजब आलम में घूरने। ताक़ पर से चुक्कड़ उठा मँगरू ने ढालना जो चाहा, तो बुलाकी चिल्ला उठा—"हैं हैं, यह क्या ?"

मँगरू ने ज़रा डाँट कर कहा—"अजी, उठो भी ! देख तो लिया दुनिया ने कि तुम राम के भक्त हो—सच्चे भक्त !"

और उसने लगा ही तो दिया उस चुक्कड़ को बुलाकी के मुँह में। वह घट-घट पी गया। पीकर उठ बैठा !

मँगरू ने गुड़गुड़ी भर कर दी। लगा कश लेने। टूट गई कंठी ! छूट गया राम-नाम !

इसी बीच पहुँचा न सूरदास भी लाठी टेकता ! उसे जाने कहाँ गंध लग गई ! ऐसा तूफ़ान-सा गरजता आया कि बस !

मैं वहाँ मौजूद न होता तो जाने क्या कर बैठता ! राम का यह निरादर सूरदास को लग गया। न रहेगा वह इस पातकी के साथ—ऐसे गन्दे वायुमण्डल में ! उसका चचा ही क्यों न हो, है तो वह पियक्कड़। राम का द्रोही और सूरदास का सनेही ? राम-राम !

उसने चचा की कुटिया से अपना झोली-झक्कड़ निकाल सामने बाग में मालती की एक डाल पर लटका दिया और चल पड़ा मन्दिर की ओर बेतरह झल्लाता। मँगरू ने रास्ते में रोक लाख कहा कि बुरा तो, भला तो—जो भी हो वह, है

उसका अपना; मगर वह काहे को सुने ! तना का तना रह गया।

यों सूरदास को आँखें तो बदल गईं, मगर यह तोता-चश्मी बुलाकी को लगी नहीं। उसने इसे ठंढे दिल से लिया।

मैंने भी उसे दिलासा दिया कि तुम उसकी आँख से गिरे तो क्या, उसे आँख है भी ? तुम्हें देख पता तो तुम्हारी क़द्र करता।

बुलाकी ज़बान काट कर रख देने पर तैयार था कि वह इस घर मे बोतल की गंध भी न आने देगा। अगर किसी दिन जी न माना, तो मँगरू की कोठरी में जाकर दो घूँट पी लेगा। फिर सुबह नहा-धोकर सर पर गंगाजल छिड़क राम-नाम भी लेगा।

मगर जाम भी है और राम-नाम भी—वासना और साधना दोनों ?

सूरदास ने तेवर पर बल लाकर कहा—"हमें आँख नहीं है काका, कि तुम उसमे धूल डाल दो ! हम तो ठहरे अंधे—लकीर धर के चलनेवाले। यहाँ तो दूध का दूध और पानी का पानी—बस !"

धार्मिक पाबन्दियों के सवाल में सूरदास के दिल में किसी समझौते की गुंजायश न थी।

सिद्धान्त के कठमुल्ले की यह अकड़ किसी ऊँट की पकड़ से कम नहीं होती। उसके दिल में किसी लाचार की कमज़ोरियों के लिए एक बूँद क्षमा नहीं।

यों सूरदास तो अपने बूढ़े चाचा से उखड़ गया। रह गया मँगरू, एक हमदर्द साथी।

अक्सर हमने देखा है कि धार्मिक आदमी जरूरत से ज्यादा सख्त होते हैं। होते हैं वे बड़े सदाचारी—चरित्र के पक्के, पर बिल्कुल बेलौस। उनके खमीर में कोई मोह-माया नहीं। और इधर कितने मनचले रँगीले, जो नित-नई रंगीनियों की तलाश में उलझते हैं और लहू-लुहान होते हैं, बड़े दिलफेंक निकल आते हैं। उनकी आत्मा में बल न हो, पर छाती में दिल होता है।

एक वह है, जिसकी बोलचाल में कहीं भी खामी नहीं—नैतिक नेकचलनी का नमूना है वह—पर उसे औरों की भूलचूक पर कोई दर्द नहीं, कोई क्षमा नहीं। शायद जो अपने लिये आठो पहर आँख पर ठिकरी रखता है, वह किसी और के लिये आँख में पानी भी नहीं रख पाता।

और, एक यह है, ज़माने का शोहदा, जो इस जीवन की दलदल में खुद लोटपोट है, मगर हाँ, और कुछ नहीं तो दूसरों को गिरते देख एक छन उसकी पीठ ठोंक कर उसका जी तो हरा कर देता है!

'लगी इश्क की चोट हो जिसके दिल पर
वही दर्द-दिल की दवा जानता है !'

जो दुनिया के काँटों से आठो पहर अपना दामन बचा कर चलता है, वह उन काँटों की खुरच की—उस खुरच की जलन की तकलीफ़ कहाँ तक महसूस कर पाएगा ! बल्कि सम्भव है कि जब किसी को उन काँटों में उलझा पाएगा, तो वह हँसकर आँखें फेर लेगा—'हूँह, चले थे रस लेने न ! और लीजिए, और !!

आज कोठी में नाच-गान की महफ़िल है।

मेरे एक मित्र ने बड़े इन्तज़ार पर बेटे का मुँह देखा है। यारों ने जलसा तलब किया--वह भी बोतली, जीराजली नहीं। उसकी आपत्ति थी कि घर पर पिताजी मौजूद हैं और हैं वे बड़े परहेज़गार। उनके रहते किसी की एक न चल पायगी।

इसी हीले की ढाल पर वह यारों के चहारतरफी वार को बचाता गया। मगर पैंतरेबाजों की कोई कमी थी इधर? 'तुम्हारे घर न सही, हम कहीं और कर लेंगे। तुम रुपये तो गिन दो!'

मेरी कोठी उन दिनों यों ही पड़ी थी। अकेला मैं था। लोग सिर हो गये। और, आसमान से उतरी हुई इस खुशनसीबी को बैठे-बिठाये इनकार कर दूँ--ऐसा सिड़ी भी मैं नहीं। मैंने कहा कि 'कोठी आपकी है—खुशी से महफ़िल कीजिये!'

"और खाने-पीने का इन्तजाम ?"

"आप इतमीनान रखें, मैं सब करा दूँगा।"

रह गया राग-रंग का प्रोग्राम। उसे एक मित्र ने उठा लिया। थे भी वह इस रंग के पारखी।

बीच हॉल में महफिल सरे-शाम ही जम गई। राग-रंग का सिलसिला चला। जो नाचनेवाली आई थी, वह नचानेवाली भी निकल आई। आई थी नाचने, लगी उँगलियों पर नचाने। एक-एक अदा पर मजलिस लगी झूम-झूम कर थिरकने। क्या आनबान, क्या चितवन, क्या मुस्कान, क्या तान—बस, पैमाने पर पैमाने की कैफियत थी।

मैं बाहर इन्तजाम में था। कमरे के अन्दर जो क़दम रखा तो देखा; कोई भी अपने-आप में नहीं। जो है, वह रंग में है—और फिर फौरन से पेश्तर तलाश है अंगूरी के रंग की। मगर न सही शीशे की लाल परी उसकी नशीली नज़रों की गुलाबी क्या कम थी ? भला इस आग में घी ! कहीं बोतल आई, तो तले की आरजू ऊपर आई। फिर तो वह समाँ बँधेगा कि महल्ला थर्रा उठेगा।

मैं उलटे पाँव बाहर जो लौटा, तो देखा, सूरदास पंखे की डोरी छोड़ उठा आ रहा है। और, उसके पीछे एक चीख-सी आई—"हैं-हैं, पंखा क्यों रुका ?"

गर्मी का ऐयाम और फिर इन रंगीनियों की गर्मी। वह

तो कहिये कि मजीरेवाले ने लपक कर डोरी थाम ली, नहीं तो सूरदास की शामत आ जाती !

मगर वह कबतक थामे रहता ? सूरदास को पुकार कर कहा—"ठहरो भी, चले कहाँ ?"

वह ठमक पड़ा। मुड़कर बोला—"सरकार ! हम मँगरू को बुलाए देते हैं।"

"अबे, है भी यहाँ ? उसे तो मैंने बाजार भेजा है रिकाबियाँ लाने को।"

"तो और किसी को मालिक ?…"

"यह अच्छी रही ! यहाँ और है कौन ? जो हैं भी उन्हें फुरसत कहाँ ?"

"मगर सरकार, हम इस गाने में कैसे ठहरें ? हमारे लिये तो यह……"

मैंने जरा तुर्श होकर कहा—"क्यों क्या, रखा है इस गाने में ?"

"विष रखा है मालिक, विष !"

"अबे, विष नहीं, रस कह—"—मुझे उस दलील पर हँसी आ गई।

"मगर सरकार ! गुरु महराज तो कह गये कि रस है मुँह पर—अन्दर है विष !"

"फिर वही पचड़ा ?"—मैं ऊबकर बोला—"तुझे तह

ढूँढ़ने को कहता कौन है ? गला तो मीठा है। गाना सुनना, गाने पर मत जाना।"

"ऐसा गाना सुनना भी मना है, मालिक !"

"कैसा गाना ?"

"यह पतुरिया की ग़ज़ल···"

"ओ ! यह बात ? तो कान में डाट दे रख ! मेरा घर तो कोई साधु का मठ नहीं है !"

वह हाथ जोड़ बोला—"मालिक, आप न समझेंगे हमारी मुश्किल तो·····"

मैंने देखा कि यह राह पर नहीं आने का। कोई लाख कहे, वह एक न सुनेगा किसी की। ज़बान भी खाली जायगी। मुझे गुस्सा भी आता—है तो पंखाकुली और यह नवाबी ! मगर करता क्या, कोई और था भी नहीं वहाँ मौजूद। फिर उसकी नमकहलाली और बेबसी पर तरस भी आती।

मैंने कहा कि "अच्छा, चल, वह न गाएगी ग़ज़ल—एकाध भजन ही सही।"

"अच्छा, जैसी मर्जी मालिक की !"—और उसने पंखा थाम लिया।

आखिर मेरे इसरार पर गानेवाली ने एक भजन छेड़ा। देखा, सूरदास मगन हो गया। उसके चेहरे में जान आ गई। एक-एक ज़र्रा लगा अँगड़ाइयाँ लेने—जैसे भावों के प्रवाह में

बहा जाता हो वह। उधर महफ़िल एकबारगी गुम। कोई हल-चल नहीं। यारों ने समझा कि यह बेवक्त की शहनाई कैसी!

इतने में एक हज़रत बोतल लिए आ टपके। महफ़िल बौखला उठी। मगर उस भजन की हवा में बोतल किस मर्ज की दवा होती! चली किसी शोख ग़ज़ल की फ़रमाइश।

इधर गानेवाली ने ग़ज़ल की एक कड़ी छेड़ी, उधर सूरदास ने डोरी छोड़ी और लाठी टेकता खट-खट सीढ़ियों से उतर गया।

मैंने देखा, माजरा बेढब है। बड़ी आजिज़ी से कहा—"उसे जाने दीजिए। पागल है वह।"

खैरियत हुई, मँगरू आ पड़ा। उसने डोरी थाम ली। बुलाकी लगा कहने—"वह कुएँ पर गया मालिक! नहाकर शुद्ध होने! उसे छूत लग गई!"

बाप रे! ऐसी छनक! कोई छुए नहीं, कोई पीए नहीं; कोई हँसे नहीं, कोई गाए नहीं—चूँकि सूरदास की हवा बिगड़ जाती है ऐसी मजलिसी आबोहवा में! तो नई दुनिया कोई कहाँ से लाये उसके लिये! हमारी दुनिया तो इस अज़ाब से खाली नहीं। यहाँ आया, तो जैसे बोतल में डूबा!

'आता नहीं शराब के जलसों में किस लिए,
पी लेगा क्या यहाँ कोई जाहिद को घोल कर?'

दिन में पंखे की माँग कभी होती, कभी नहीं होती। अगर हुई भी, तो दुपहरी की बेला। हाँ, रात में यह सिलसिला काफी देर तक चलता।

मुझे वैसे ही नींद बड़े इंतजार पर आती है। आधी रात के क़बल तो उसकी दूती जम्हाई तक नहीं आती। ऐसी बेदर्द है वह! घंटों पलकें बिछाईं—मिन्नतें कीं, तो कहीं अटपटी-सी अनमनी-सी आ गई। आई भी तो क्या आई, जब जाने को तैयार आई! यह आई और वह गई! ऐसे आने की ऐसी-तैसी! आँख भी नहीं भरती, तो जी क्या भरेगा?

'वो आना वो फिर जल्द जाना किसी का
न जाना कभी हमने आना किसी का!'

यह नहीं कि हमने नाज़-बरदारी में कोई कमी की। पलँग डँसाई, तलवे सहलाये, बेनिया डुलाई—क्या-क्या नहीं किये! मगर वह काहे को सुने? वह तो अपनी जिद से एक तिल भी

नहीं हिलती। काश कोई भी रात वह मेरा पहलू गर्म कर पाती ! रात आते वह आती और रात जाते वह जाती—ऐसी न कभी कोई रात आई, न ऐसा कोई प्रात आया।

एक दिन ऊब कर मैंने भी कहा कि 'जाओ, तुम भी क्या याद करोगी कि कोई आशना था तुम्हारा ! लो, अब मैं भी रूठता हूँ तुमसे ! यों मनाने से तो तुम मानती नहीं—और भी तनती रहोगी। बस, तुम्हें उतार ही देता हूँ दिल से। तुम न आओगी तो जैसे मेरी मौत भी नहीं आएगी !'

और बस, मैं तमाम झंझटों से निबट कर कुछ दिलचस्प किताबें लेकर बैठ गया। कभी कुछ पढ़ता, कभी कुछ लिखता। दिन की कमी रात लगी भरने। रात की शान्ति बिखरी भावनाओं को समेटने में भी मदद देती।

एकाध दिन तो, खैर, मैं अपनी अकड़ पर डटा रहा। मगर रूठे आशिक को चैन कहाँ ? रात ज्यों-ज्यों बीतती, रात की रानी की तलाश त्यों-त्यों दुगनी होने लगी। लगी आँखों से जान निकलने। शरीर का एक-एक ज़र्रा उस मोहिनी के आलिंगन के लिये चीख उठा। वह तमाम अकड़ जानें कहाँ विलीन हो गई !

फिर वही इन्तज़ार, वही खुशामद, वही मिन्नत, वही खिलवत, वही पलंग, वही झालरों की मीठी बयार—और साथ-साथ नींद की वही कज-अदाई—वही बेवफाई ! जाने

किधर से एकाएक आना—ज़रा-सी खुट पर निकल भागना! और, मेरा रह जाना हाथ मलते, सिर धुनते!

गर्मियों की रात तो और भी पहाड़ हो जाती है। पंखे के बग़ैर छन-भर भी चैन नहीं। बरसाती ऊमस रही, तो और भी मुश्किल। आँखों पर जान आ गई, तन पर नींद नहीं आई।

यह ज़रूर है कि हमें रह-रह कर खटकता है कि एक हम हैं, जिसे पंखे के बग़ैर एक छन चैन नहीं, और एक यह मँगरू है, जो इस गर्मी में पसीने से तर-ब-तर भी ताबड़तोड़ पंखा खींचे जा रहा है! वह हवा लेता नहीं, हवा देता है। और वह भी आदमी है, हम भी आदमी। हम मज़े में गुलगुल गलीचे पर पाँव फैलाए तान कर लेट रहे हैं—एक पल भी पंखा रुका तो जान निकल गई; और, यह बिचारा बूढ़ा अँजुली-भर चावल के लिये इस ऊमस में रात को दिन कर रहा है।

कभी-कभी तो इस आत्म-दंशन की चोट खाकर उठ बैठता, पंखा रोक देता और फिर सिर धुनता कि काश इस अमारत के बग़ैर आँख लग पाती!

और फिर लगता सोचने कि एक वह है कि हाथ में पंखे की डोरी लिए भी, गर्मी की लाख शिद्दत पर भी, झुक कर सो रहता है; और एक हम हैं कि घंटों सर पर हवा की फुरैरी लेने पर भी करवटें बदलते रह जाते हैं। हमने उसे रात-भर

जगवा कर पंखा खिंचवाना चाहा ताकि उस पंखे की हवा से हम आराम से सो पावें। मगर क़ुदरत का यह तमाशा तो देखिए कि जो जागने आया है, वह लाख कड़ाई पर भी दो-चार लपेट सो ही लेता है; और जो सोने आया है, वह हज़ार अमारत पर भी जागता का जागता ही रह जाता है! इधर मखमल की गद्दी है, उधर धरती, हम लेटे हैं, वह उकड़ूँ बैठा है; हम हवे में हैं, वह मानों तवे में। मगर वाह री नींद और वाह री उसकी दिलदारी! वह गद्दी का साथ नहीं देती, धरती का देती है। जो उस पर जी-जान से मर रहा है, उसे तो वह पूछती तक नहीं और जो उसकी परवा तक नहीं करता, उसे वह गले पड़ गले लगाती है! इधर पलँग पर सोनेवाला सुबह बिस्तर छोड़ता है, तो रात का पोलाव-कलिया पेट में ज्यों-का-त्यों है; और वह गच पर बैठे-बैठे रात काटनेवाला पंखा छोड़ उठता है, तो कटकटा कर चबेने पर टूट जाता है।

तो उसे क़ुदरत की देन नींद मिली है, हमें क़िस्मत की देन पंखा और पलँग! उसे मिहनत की देन भूख है, हमें अमारत की देन दर्द-सर! मगर हाय री जमाने की फबती! वह रोता है, हम हँसते हैं; वह झोपड़ी में है, हम हवेली में; वह मजूर है, हम अमीर। मगर हाँ, सुखी कौन है—वह या हम? यह तो अपनी-अपनी आरज़ू है—अपनी-अपनी नज़र है। वह

समझता है कि हम हैं--हमारे साथ बेलरों की जोड़ी है और मोटर की हवाखोरी; संगमरमर की हवेली और कारचोबी की गद्दी। हम समझते हैं कि वह है—डेढ़ सेर चूड़ा और सेर-भर भैंस का मट्ठा लामहाले आँत की तहों में रख वह ऐसा तान कर सो जाता है जैसे की बारात की झंझटों से निबटा हुआ कोई बेटी का बाप। मगर कौन कहे, दोनों में कोई नहीं! मन तो दोनों का बराबर छटपट है। न उधर चैन, न इधर। एक अमारत की सुविधाएँ ढूँढ़ता है, दूसरा रेशमी सुविधाओं के खतरों के भँवर में उबचुब हो रहा है।

हठात् उठकर देखता हूँ कि वह खुरखुरी दीवाल पर पीठ दिए रह-रह कर ऊँघने लगा है। यह खूब! बैठे-ही-बैठे सुख की नींद लेने लगा है! न तकिया, न गलीचा! डोरी उसकी उँगलियों की लपेट में शिथिल-सी पड़ी है।

अजी वाह री नींद! और वाह री तेरी आशनाई! मरें हम, जीये वह; जागें हम, सोये वह!

कि बुलाकी आकर उसे ठोकरें देकर चिहुँका देता है। वह धड़फड़ लगता है डोरी खींचने। सर-सर डोरी चलती है। फिर-फिर हवा आती है। दस मिनट। बीस मिनट। यह क्या? हवा फिर क्यों लगी रुकने?

आँखें जो खोलीं तो यह लो, उसका हाथ लगा है फिर

लरज़ने, सिर लगा है छाती पर झुकने। कि डोरी उँगलियों से छूट गई। छूट कर तड़ाक-से मेरे मुँह पर आ पड़ी।

जी झल्ला उठा—नमकहराम कहीं का! तुझे इतनी डोरी दी हमने—अब ठहर; इसी डोरी से मुश्कें बाँध···

न सोएँगे पलंग पर। चल रे मन, आरामकुर्सी पर चल!

और आरामकुर्सी खींच हवा के रुख रख लेट गया।

कुर्सी खींचने की आवाज से वह चौंक पड़ा। चेतना तो नींद से भरी है—अंधेरे में देख नहीं पाया कि पलँग खाली है। वह फिर नींद की खुमारी में चूर, अनमना-सा, अटपटा-सा डोरी थामता है। दो मिनट बाद, जाने क्या समझ, वह हाथ की डोरी को पैर के अँगूठे में लपेटता है; फिर इतमीनान से गद्दे पर लेट पैर उठाकर डोरी खींचता है।

अबे पागल! जब बैठ कर तुझे नींद से नजात न मिली, तो लेट कर मिलेगी?

हैं! यह गुर्राहट की आवाज़ कैसी? ओ! नाक लगी बजने। पैर की हरकत रुकते-रुकते रुक गई। वह बेवफ़ा नींद फिर उसी के पहलू में गई। रह गया मैं मुँह ताकता!

उसकी नाक की आवाज़ लगी काटने!

बाप रे! यह एक नई आफ़त। अच्छा, ले! कल से यह हुक्म जारी किया कि खबरदार, जो कोई पंखाकुली बैठकर या लेटकर पंखा झले! वह पहरे के सिपाही की तरह हाथ में

डोरी थामे बराबर खड़ा रहे। अब देखना है, कैसे आती है उसकी चाहनेवाली नींद!

और रात आँखों में कट गई।

भोर होते-होते उसकी नींद जो टूटी और उसने देखा कि मालिक पलँग पर नहीं, हवा के रुख पर आरामकुर्सी रख बरामदे के उस पार पड़े हैं तो उसका कलेजा धक् से कर गया। वह लगा नींद को जी-भर कोसने—अरी निगोड़ी! तुझे जाना है उधर और तू आती है इधर? मेरी रोटी तुझे भारी है क्या?

और वह निगोड़ी उसकी गालियाँ सुनती है, लात सहती है; पर हमारी लाख आँखें बिछाने पर भी आँखों पर नहीं आती।

सुबह जो ज़रा-सी झपकी-सी आने लगी थी, वह कौवों के काँव-काँव पर दो पल में मिट गई, और आँख खुलते मेरी ज़बान से बरजस्ता फूट पड़ा बिहारी का वह दोहा—

'नभ लाली चाली निशा, चटकाली धुन कीन।
रति पाली आली अनत, आये वनमालीन॥'

देखा, मँगरू हाथ में ताड़ का एक पंखा लिए हवा कर रहा है और रह-रह कर सिर से पैर तक थर्रा जाता है कि मालिक की आँख खुली तो हम पर क्या बला आएगी!

मगर रात की बात रात के साथ गई। आज के सामने कल का क्या मोल? आज तो भोर का आसमान हँस रहा है। पूरब की गुलाबी लगी है गुलाली होने। उसमें रंग का

निखार है, गान की झंकार। ऐसे जमाल के खिलते किसी मलाल को मन में पालना तो महाल है।

और मैंने हँसकर कहा—"मँगरू, तूने सुनी है राजा भर्तृहरि की वह फ़रियाद?"

"का मालिक?"—वह लगा मेरा मुँह जोहने।

"अच्छा तो सुन—

यां चिन्तयामि सततं मयि सा विरक्ता
साप्यन्यमिच्छति जनं सजनोऽन्यसक्तः
अस्मत् कृते च परितुष्यति काचिदन्या
धिक् तां च तं च मदनं च इमां च मां च!"*

---

*कहते हैं, राजा भर्तृहरि को एक योगी ने कोई फल लाकर दिया कि राजा की जवानी बनी रहे। राजा ने प्रेमवश फल रानी को दे दिया। रानी किसी दूसरे से आसक्त थीं, इसलिए वह फल उन्होंने उसे दे दिया। वह पुरुष भी एक वेश्या से लगा था और वह फल उसने उसी को दे दिया। उधर वह वेश्या राजा पर मुग्ध थी और उसने वह फल राजा को भेंट कर दिया। फल देखते ही राजा सन्न हो गये। सारा भेद खुल गया। उसी समय भर्तृहरि ने यह श्लोक पढ़ा और संन्यास ले लिया।

'जिसकी चिन्ता मुझे दिन-रात लगी रहती है, वह मुझ से विरक्त होकर किसी दूसरे को चाहती है; वह व्यक्ति भी उसे न चाह कर किसी दूसरी से आसक्त है; और वह दूसरी उससे विमुख हो मुझ पर रुझान रखती है। धिक्कार है रानी को, धिक्कार है उस पुरुष को, धिक्कार है कामदेव को, धिक्कार है उस वेश्या को, और धिक्कार है मुझको!'

"सरकार ! हम तो सिर-पैर कुछ भी समझ नहीं पाते !"

"तो मैं बताऊँ तुझे। ज़रा दिमाग़ के झोल तो निचोड़ डाल—देख, मैं मरता हूँ नींद पर; मगर वह मरती है तुझ पर। उधर तुझे उसकी तलाश नहीं; तू चाहता है चटकीली चाँदी। पर चाँदी तेरे हाथ नहीं लगती; वह गरमाती है मेरे हाथ ! समझे ?

"बस लानत है नींद पर, लानत है ज़र पर, लानत है ऐसी चाह पर और लानत है तुझ पर और लानत है मुझ पर !"

वह लगा मुँह और आँखें फाड़ मेरी बातों की तह ढूँढ़ने और रह गया यों ही टुकुर-टुकुर जोहते एक अजब आलम में।

मैंने फिर हँस कर कहा—"अच्छा, आज से तुझे पंखे के तले गुलगुल गलीचे पर सोना होगा। हमें आज़मा कर देखना है कि नींद की गद्दीवाली पलँग से कहीं अनबन तो नहीं !"

वह लगा थर-थर काँपने। मेरे चेहरे पर तो हँसी की लहर है, पर उसे दीखता है उस लहर के भीतर तेवर। उसे विश्वास ही नहीं होता कि इस हँसी की हिलोर के भीतर किसी खीस की रविश नहीं।

इसी बीच बुलाकी आ पड़ा। उसे मैंने अपने नये प्रयोग की बात कही तो वह खिलखिला कर हँस पड़ा—"तो सरकार हाथ में डोरी लेंगे न ! यों तो पूरी जाँच होगी नहीं !"

और मैं चुप हो गया। वह हँसी की लहर गुम हो गई। लगा ग़ौर करने। बुलाकी की बात तो बड़े पते की है। मगर यहाँ तो ऐसी आरामतलबी की आदतों की गुत्थी है कि हाथ पाँव की कोई कसरत मयस्सर नहीं—बहुत हाथ मारा तो हाथ से कलम उठाई काग़ज़ रँगने और बैठे-बिठाये सिर चीरने को। इधर सिरहाने टेबुल पर दवा की शीशियाँ बदल रही हैं। मगर कहाँ की भूख और कहाँ की नींद!

आख़िर आदतों के शिकंजे में गिरफ्त मुझे सुविधाएँ और बढ़ाने की सूझी। कहाँ मिहनत की ओर मुड़ता, कहाँ बढ़ा अमारत की ओर!

यह नहीं कि मुझे खटक न हुई कि फिर उसी भँवर में खिचता जा रहा हूँ, फल यह होगा कि उठते-बैठते, खाते-पीते पंखे की तलाश होगी। पर रीझ के आगे बूझ की क्या बिसात? जो लीक बचपन से लग गई है, वह जाने-अनजाने छूट नहीं पाती। बस, उस तोते की कैफ़ियत, जो पिंजड़ा खुला पाकर भी उड़ नहीं पाता; रह जाता है टुकुर-टुकुर देखता।

पहले एक रहा आधी रात के लिए, तो लगा कि सारी रात के लिए एक और चाहिये। दो हुए, तो यह तय हुआ कि दिन में भी बग़ैर पंखे के चैन नहीं। तीसरा आया, तो यह कि तीन भी काफ़ी नहीं—अक्सर लगते हैं सोने; एक और आता तो बराबर चलता। यों चला चौथे की फरमाइश—"बुलाकी!

जैसी गरमी पड़ रही है, एकाध पंखाकुली और तलाशो। इन से काम नहीं निभता। मँगरू ठहरा बूढ़ा। अकेला सूरदास तो कुछ उँगलियों पर गोवर्द्धन नहीं उठा लेगा। देखते नहीं, कोल्हू का बैल हो रहा है!"

"जवान पट्ठा है न मालिक! और है भी तो बुलाकी का खानदान!"

"मान गया वह रुस्तम है। मगर एक मुर्गी कहाँ-कहाँ हलाल होगी? और, वह भी तो कल से छुट्टी पर है!"

"छुट्टी? छुट्टी कैसी सरकार?"

"जाने कैसा उत्सव है। दो हफ्ते की छुट्टी ले रखी है उसने।"

बुलाकी ने मुँह बना लिया—"तो फिर वह मठ पर गया? कहा तक नहीं! शायद डरा होगा कि हम जाने न देते।"

"जाने दो। दो-चार दिन घुर-फिर आए। आखिर उस मठ का भी तो कुछ हक़ है उस पर।"

"सरकार! जो भी दो चार पैसे बचा पाया है, वह सब कौड़ी-कौड़ी ऐंठ लेंगे मठवाले। आप देख लेंगे, ज़िन्दगी-भर वह योंही खटता रहेगा और उसकी चर्बियों को चाट-चाट कर शेर होंगे वे खूँखार साधु।

"सरकार! उसके बाप से न मन्दिर छूटा, न मठ। हमको जब पता चला, तो बड़ी फटकार बताई। कहा—'जाकर एक-

एक चीज़ रात में रख आओ। देवता के घर भी कोई ऐसा करता है?' वह कह तो गया कि जाते हैं, वापस कर देंगे, मगर जाकर जाने कहाँ चुराकर बेंच आया। वही रिन उसका बेटा कौड़ी-कौड़ी चुका रहा है।"

दूसरे दिन सबेरे बाग़ में टहलते वक्त बुलाकी ने आकर कहा—"सरकार, सुखिया तो रात मर गई!"

"मर गई? क्या हुआ था उसे?"

"साँप डँस दिया शायद!···वह तो कहती रही कि झाड़ी का काँटा चुभ गया है।"

"तो तुमने हमें खबर नहीं की?"

"हमें क्या पता था कि वह मरने जा रही है! चटाई पर जो सोई सो वहीं-की-वहीं रह गई। सबेरे उसे मिट्ठू ले गया फूँकने।"

एक हलकी आह के साथ निकल पड़ा मेरे मुँह से—'बिचारी!'

"गऊ थी मालिक, गऊ! किसी पर कभी न आँख टेढ़ी की न जीभ। मिट्ठू की लगती रही तो चची, मगर कभी एक लोटा पानी भी उससे तलब नहीं किया होगा। ऐसी अनबोलती थी वह। उसकी एक अंधी भतीजी है गाँव पर। जो दो-चार पैसे बचा पाती, धनिया के लिए रख छोड़ती रही। अब जाने कैसे उस बिटिया की रोटी चलेगी। सरकार कहें, तो उसे पंखे

पर रख लें। मिट्ठू कहता रहा—सयानी है, हाथ-पैर से मजबूत।"

"हक़ भी तो है उसीका! रख लो।"

इधर पंखे की ड्यूटी भजुआ देता रहा। वह है माली का गुमाश्ता। घोड़े का घसगढ़ा, बाग़ का मजूरा।

चौथे दिन धनिया आ गई। देखा कोई बीस साल की होगी। नाक-नक्शा मज़े का है। कुछ अजब चंचल-फुर्तीली। आँखें होतीं तो जानें क्या होती! यों देखने से तो पता भी नहीं चलता कि वह अन्धी है—ऐसी चुलबुल है वह।

धनिया एक बला का दिल लेकर आई और आते ही दिल खोलकर मिल गई।

बिचारी गाँव में जनमी, गाँव में पली। आँखें भी न थीं कि दुनिया देख पाती। उसकी दुनिया तो व्यक्त नहीं। जो कुछ है वह स्वर है—संकेत है। मगर वही बहुत कुछ है। इतनी प्रबल थी उसकी जिज्ञासा—ऐसी सजग थी उसकी उत्कण्ठा!

बाहर से जो आई तो एकाध दिन खो-सी गई। नई-नई सुरभि, नई-नई ध्वनि। नये-नये इंगित, नये-नये संकेत। या भगवन्! यह एक नई ज़मीन, नया आसमान कहाँ से आ गया!

कहाँ महुआ की गन्ध, कहाँ हुस्नहेना की लपट! कहाँ

आम के बौर की मिठास, कहाँ गुलाब की क्यारियों से उड़ती हुई मदिर खुशबू। और इधर उसकी चेतना पर बोलने लगी शहर की अनजान हलचल—विचित्र गुंजन। उसकी कल्पनाओं की परिचित दुनिया उथल-पुथल न होती तो वह बाग के फूलों की क्यारियों में यों पागल-सी डोलती नहीं फिरती, ग्रामोफोन के गाने पर लाज और लिहाज ताक पर रख बौखलाई हुई मेरी बैठक में टूट कर न आती। मुझे तो ऐसा लगा कि सवार हो गया उसके सर पर शहरी सुर और सुरभि का सुरूर!

उस दिन धनिया पंखा लेने जो आई तो उसके पैरों की लीला-चंचल आहट सूरदास के कानों से बच न पाई। कुछ अजब शोख है अन्धों के कान! जाने क्या-क्या सुन लिए!

उसी दिन वह मठ से लौटा है। कोठी में क़दम रखते ही उसे बुलाकी ने पंखे की डोरी थमा दी। उसे पता भी नहीं कि इसी बीच सुखिया की जगह धनिया बहाल हो चुकी है।

मैं सामने ही आरामकुर्सी पर हूँ। शुदनी ऐसी कि नज़र भी सामने है। देखा, एक अजब परीशानी-सी उभर आई है उस पर—जैसे उसके अस्तित्व का ज़र्रा-ज़र्रा खिंच कर तन गया हो! वह ताड़ गया कि हो-न-हो, यह किसी अपरिचित पैर की थाप है। नहीं तो बरामदे के कोर पर धनिया के क़दम

आते ही वह अकचका कर क्यों पूछ बैठता—"कौन है भाई ?"

धनिया जब बिलकुल क़रीब आ गई, तो सूरदास पंखे को डोरी ज़मीन पर रख कुछ दूर खरक गया। आँखें फाड़ देखना तो उसके लिए दुश्वार था—नथने फाड़ जाने क्या सूँघने लगा, कान खड़े कर जाने क्या सुनने लगा ! चेहरे की एक-एक शिरा नंगी तलवार-सी तन गई।

और दिन तो वह डोरी मँगरू के हाथ में अन्दाज़ से छोड़ अलग होता रहा ताकि पंखा एक पल के लिए भी रुके नहीं और डोरी पलटे के हाथ में देते वक्त 'जय सियाराम' का बोल अनायास उसकी ज़बान से फूट पड़ता ! यह आवाज़ मेरे कानों में आई नहीं कि मैंने समझा कि सूरदास की ड्यूटी खत्म हुई और आया वह देहचोर मँगरू, जिसके हाथ में डोरी गई और उसकी उँघाई शुरू हुई ! दस-दस मिनट पर हाँक-डाँक चली और फिर भी वह नींद से बेदार न हुआ तो मुँह पर पानी के छींटे देने पड़े।

आज गैर-मामूल सूरदास ने डोरी ज़मीन पर रख दी। पंखा एकाएक रुक गया और वह मुड़ कर वापस जाने के बजाय एक ओर ठिठक कर खड़ा हो गया। उसकी ज़बान पर हसबमामूल 'जय सियाराम' की जगह 'हरे राम' जाने कहाँ से उठ आया।

अजब इत्तफ़ाक़ ! मेरे मन का रुख इधर ही मुड़ चुका था। देखा—सूरदास के चेहरे पर जैसे एक रंग उभर आया है। उसकी आँखों के सूने कोयों में जैसे जान आ गई है। वह जाने किस इन्तज़ार में ठिठका खड़ा है। कोने में उसके हाथ की लकड़ी खड़ी है। जाने वह क्या सोच रहा है, क्या सुन रहा है, क्या देख रहा है !

क्या है, क्या नहीं है ! क्यों वह आज ऐसा कुछ खिंचा-सा, कुछ उखड़ा-सा, कुछ भर्राया-सा दीख रहा है ?

और जाने कैसे मेरे भीतर की कुतूहली वृत्ति अँगड़ाई लेकर उठ बैठी है, ज़रा-से ठुमुकते पैरों के सूक्ष्म संकेत पर, उस अंधे की चेतना पर ऐसी प्रतिक्रिया ! तो क्या उसके मन की कोई बारीक संग्राहिणी वृत्ति उसके मर्म के कानों को किसी की आमद की सूचना दे गई ? सम्भव है, उस खरामेनाज़ की भंगिमा उसके दिल के पहलू पर गुल कतर गई !

तो खिलेगा कोई नया गुल ? बग़ैर देखे भी उसने उसे एँड़ी से चोटी तक देख लिया ! यह पहचान न होती, तो उसकी यह झिझक न होती। वह ताड़ गया कि यह कोई ऐसी-वैसी नहीं—क़ातिल है, क़ातिल ! आई है मेरी दुनिया पलट कर धर देने ·· ·····

सूरदास को नारी के दरस-परस से इनकार है। उसके गुरु महाराज ने इस शिक्षा को कूट-कूट कर भर दिया है

उसमें। जभी तो उसकी खड्गहस्त चेतना ठोकरें देकर उसे सचेत कर गई! कौन कहे, कहीं मन की एक ओर से किसी आसन्न विभीषिका की आशंका उठी हो, तो दूसरी ओर से किसी अनजान वसंत-चांचल्य की भंगिमा! मुझे तो, जाने क्यों, कुछ ऐसा लगा जैसे मलय-हिल्लोल की एक नवीन अभिज्ञता उसके मन के पटल पर झंकार दे उठी। हाँ, इस 'क्यों' और 'कैसे' की सफ़ाई कोई कैसे दे?

तो क्या शरीर में यौवन का उभार कुछ रंग और बू लेकर उठता है? रंग तो साफ़-साफ़ दीखता है, पर खुशबू कुछ ऐसी भीनी और सूक्ष्म है कि एकाध नाजुक मिज़ाज ही किसी क़दर उसकी टोह पाते हैं। शायद एक अन्धे की चेतना होती भी है कुछ दिव्य। आखिर बग़ौर देखें, बग़ौर छूएं, एक युवक को किसी युवती की समीपता का आभास पाना एक पहेली नहीं तो क्या है?

धनिया के चेहरे पर भी कुछ उद्वेग—एक अजब आवेश—के आँकड़े-से नज़र आए। संभव है, उसे अचरज हुआ कि आज उसके हाथ में डोरी क्यों नहीं दी गई। पंखा खींचने-वाला डोरी यों ही छोड़कर चलता बना—यह तो उसके कान उसे जरूर सुना चुके। पंखा चलने की वह चरमरे-ध्वनि भी बंद हो गई और जब 'हरे राम' की आवाज़ कानों में आई, तो वह कुछ सहमी-सी भी दीख पड़ी।

वह लगी झुककर जमीन पर डोरी टटोलने कि मैंने पुकार कर कहा—'बायीं ओर'। और उसने चट डोरी थाम एक झटके-से खींचना शुरू कर दिया।

कलाई की चूड़ियाँ कुछ खनक पड़ीं। साड़ी की खसखसाहट के साथ-साथ डोरी खींचने की सलील भंगिमा बोल उठी और सूरदास ने एक अजब झिझक से कहा—"तो सरकार! हम रात की ड्यूटी में क्यों न आएँ?"

"क्यों! दिन में आने में तुझे हिचक क्या है?"

"तीन-चार घंटे की तो बात है। इतना भी न सम्हाल लेगी वह?"

"कौन? धनिया? वह तो अभी कल ही आई है। कौन जाने, कहाँ तक निभा पाएगी। कहीं खोने लगी तो?"

"खोने की तो कोई वजह नहीं मालिक, और वह भी दिन में!"

"अच्छा कह रहे हो! यह कुछ रात या दिन पर तो मौकूफ नहीं! और, आखिर रात में भी तो एकाध घंटे उसे डोरी लेनी होगी। मँगरू तो लग्गी से घास टालता है बेहूदा।"

कितने बजे होंगे, पता नहीं। रात आधी रात के पड़ोस में होगी। आरामकुर्सी पर लेटे तुर्गनेव की एक कहानी पढ़ रहा हूँ।

हठात् पंखे की डोरी छूटकर तड़ाक-से लैम्प की चिमनी पर आती है। झुँझला उठा—कहीं मुँह पर आती तो ?

"क्यों सूरदास ! खरबूजे को देखकर खरबूजे ने रंग पकड़ लिया ? तुम भी लगे औरों की तरह सबेरे-सबेरे ऊघने ?"

"जी सरकार—"

मुड़कर देखता हूँ, सूरदास एक अजब आवेश में कुछ काँपता-सा खड़ा है। धनिया जमीन पर घुटने टेक दोनों हाथों से डोरी टटोल रही है। मगर डोरी तो छूटकर कुर्सी की बाँह पर आ पड़ी है, वह पाती कहाँ ?

"लो, यह रही तुम्हारी डोरी !—" मैंने उसे समेट कर उसके पड़ोस में फेंक दी।

हठात् सूरदास ने एक अजब झुँझलाहट की आवाज़ में कहा—"अब तो मालिक ! यही रहे या हम। हम तो डोरी अन्दाज़ से रख देते, यह उठा लेती। यह कंधे पर झुककर डोरी थामने लगी। क्या करता ? हाथ से छूट गई।"

"तो आख़िर हुआ क्या ? अंधी तो वह भी है बिचारी। भूल से अगर·····"

"मालिक ! यह भी कोई भूल है ? यह तो सरासर बदज़ाती है—बदज़ाती ! जानती है कि हम औरत के दरस-परस से कोसों दूर रह आये। गुरु महाराज तो मरते दम भी·····"

"बस-बस, रहने भी दो ! ज़रा-सा छू गया, तो जैसे नापाक हो गये तुम ! यह भी उस दिन वाली बेसवा है कि ऐसे भड़क उठे !"

"सरकार, चन्दन की आग भी तो आग ही है !"

"यह आग की भी एक ही रही—जैसे कि कहीं जल गया !"

"जला तो नहीं, मगर·····"

"फिर मगर क्या ?"

सूरदास लगा एक हाथ से दायाँ कंधा सहलाने।

उसके गले का एक-एक रोम उस स्पर्श की लौ से जैसे चीत्कार कर उठा हो।

देखा, चेहरे पर किसी भीतरी हलचल की एक लहर-सी उग आई है—जैसे भीतर की कोई व्यथा उसके चेहरे को मथ रही हो।

सूरदास का यह आवेश, गले के छोर पर ताबड़तोड़ उँगलियों का फेरना, मुझे एक अजब मज़ाक-सा लगा। कहीं वह चिमटी तो नहीं काट गई या डोरी थामने की उलझन में उसकी उँगलियों के नाखून तो नहीं लग गये या कौन कहे, सरासर उसका पाखण्ड तो नहीं है यह!

मगर सूरदास तो कभी का पाखण्डी नहीं। यह बात और है कि छूतछात के सवाल में एक अजब सिरफिरा था वह।

कि इठात् जाने कैसे रोशनी की एक लकीर मेरे मानस के पटल पर उग आई—हो न-हो, यह बिजली है—बिजली; एक तरुणी के शरीर के प्रथम संघात से उमगी हुई गुदगुदी की तीव्र अनुभूति।

तो क्या जगा दिया यौवन के इस स्पर्श ने उसके शरीर की सोई हुई सत्ता को? क्या आज स्फुरित हो गया चैतन्य उस शरीर-पंजर में? वही यह लौ है, जिसे वह समझ नहीं पाता कि क्या है?

ऐसी सिहर-भरी उद्दीपना को जानने का उसे अवसर ही कहाँ मिला अबतक? परिचय होता, तो पहचान पाता। आज वह चकित, विचलित, स्तंभित है, तो आश्चर्य ही क्या?

तो क्या अंधे शरीर की आँखें हठात् खुल गईं? यह चकाचौंध है यह आवेश?

और जब सुबह मैंने देखा कि मालती के झोंप के तले बैठ वह अपनी पूजा की चँगेरी में नई-नई कोंपलों और फूलों को बड़े चाव से, क़रीने से सजा रहा है, तो एक विचित्र प्रतिक्रिया जाने क्यों, मेरी अनुभूति के पटल पर खेल गई! मुझे लगा, जैसे आज फूलों की पंखड़ियों पर उसकी उँगलियाँ किसी परिचित पुलक-स्पर्श को ढूँढ़ रही हैं।

भला, इन पपड़ियों पर उस प्राणप्लावी पुलक की तलाश! अबे ओ अंधे! यह क्या किसी रमणी का कोमल गात है, जो वैसा नरम, वैसा गरम होगा, जो तेरी उँगलियों की पोर-पोर में बिजलियों का प्रवाह भर गया! यह चेतन का करिश्मा कभी जड़ में मिलने को है—वह लाख मुलायम क्यों न हो?

भगवान जाने, मेरी यह तमाम धारणा कोरी कल्पना है—मेरी अपनी मनोवृत्तियों की छलना—या किसी क़दर वास्तव का छींटा भी है इसमें! आखिर ऐसी बातों में तो जितना छानो, उतना ही करकट निकलता है। कौन कहे, उसके दिल के कच्चे चिट्ठे खोलने की कोशिश में मैं अपनी ही अंतर्लीन लालसाओं की पोल न खोल बैठा! उसकी आत्मा तक मैं पहुँचा या नहीं, यह कोई कैसे कहे! मगर कहीं मेरी आत्मा ही इस छानबीन से तह-पर-तह उघरती न जाती हो।

कहनेवाले तो कहेंगे ही कि 'जाकी रही भावना जैसी, हरि मूरत देखी तिन तैसी।' मैं जैसा हूँ, वैसा औरों को भी देखता हूँ। न मुझमें सेक्स का मालखौलिया होता और न मेरी निगाह इस रंग में आती।

जी, आपका यह कहना तो बिलकुल बजा है। मगर खता माफ़, अगर मेरी ज़बान यह जवाब दे बैठे कि मैं तो वैसा हूँ जैसा कि आप खुद चाहते हैं! मैंने जो कुछ कहा है, वह आपके ही दिल की बात है। मेरी लालसाओं के आईने में तो आपकी लालसाएँ भी झाँक रही हैं। अब आप कहें तो अपने सीने पर हाथ रख'''.....

खैर, दो घड़ी बाद मेरी यह धारणा लगी डावाँडोल होने, जब मैंने देखा कि सूरदास तो धनिया से एकबारगी छनका हुआ है। छनका क्या, बेतरह खिंच गया है।

धनिया तो जब से आई, एक रंग जमा दिया अपना। है तो अंधी, पर वह दिलफेंक चुलबुल कि बस! सूरदास के पीछे तो जैसे हाथ धोकर पड़ गई!

उसके कदम रखते ही सूरदास ने जो 'हरे राम' पुकार कर डोरी अलग रख दी थी, वह 'छीः मानुष' वाली मुद्रा अजब नहीं कि धनिया की चेतना पर खुल गई हो! और वह मन-ही-मन खीझ उठी--हुँह, बड़ा साधु बना है! खींचने को पंखा और आचार का यह टिन्न! बात-बात पर 'जय सियाराम' का

चढ़ा ! यह चोन्हा तो देखो, ज़रा-सा पल्ला का खूँट छू गया, तो जाने क्या हो गया !

संभव है, कुछ ऐसी प्रतिक्रिया उभर आई हो उसके दिमाग़ में और वह लगी बात-बात में सूरदास की साधुगिरी की मद्द करने।

सूरदास एक बार 'सियाराम' कहता, तो वह ज़रा ऊँची टोप से दस बार 'राधेश्याम' पुकारती ! वह ऊब कर "जै रघुवंशमणि" पर उतर आया, तो यह 'वृन्दावनविहारी लाल की जै' लेकर उठी। यह न था कि वह कुछ राधेश्याम की भक्त थी। मगर मिटठू से पता चला कि गाँव पर उसके घर के पड़ोस में एक बालगोपाल का मन्दिर है; वहीं की चन्द चलती बोलियाँ पकड़ ली है उसने। अंधों के कान होते भी हैं बड़े तेज़ ! जो दो-चार चीज़ वह सुन आई है, वह काफ़ी है सूरदास को चाबुक देने के लिए !

इतनी समझ सूरदास को है कि यह 'राधेश्याम' की रट कुछ भक्ति का पुट नहीं रखती। यह 'राधेश्याम' उसके 'सियाराम' पर छींटेकशी नहीं, तो एक व्यंग्य को ठठोली तो साफ़ है।

सूरदास बेतरह खीझ पड़ा। बैठे-बिठाए झड़पें चलीं। राम-जानकी की शान के खिलाफ वह अपने चचाजान की जबान भी बरदाश्त नहीं कर सकता; धनिया किस खेत की मूली है !

सूरदास की मरम्मत बुलाकी के जी को बस गई। वह भीतर-ही-भीतर खुश था कि अच्छा पिट रहे हैं बच्चू! बड़े बने थे भगत। आज दुम में चली गई तमाम ऐंठ।

धनिया तो बुलाकी की नाड़ी पहचान गई। लगी 'काका' पुकारने। जब फ़ुरसत पाती, बुलाकी के पास जा बैठती, टो-टा कर छोटी मोटी सेवा जो कर पाती, जी खोल करती। निपुण ऐसी थी कि चिलम तक भर देती। एकाध बार उंगलियाँ तक जल गईं; मगर परवा न कर धीरे-धीरे गुड़गुड़ी भरने की तमाम बारीकियों को हल कर गई। और बुलाकी तो जब तब अवसर ढूँढ़ उस छोकरी की खूबियों पर तारीफ़ के पुल बाँधता--"मालिक! उसके हाथों में आँख है! कितना साफ़ काम करती है वह!"

जवान को ज़ीट चोट करती है, बूढ़े की ज़ीट दिल गुद-गुदाती है। उसकी शेखियों के बघार में एक ख़ास लुत्फ है। जी ऊबता नहीं, भुरभुराता रहता है। बूढ़ा तो चाहता है कि हम उसके अतीत की एक-एक बात पर कान तो दें ही—दाद भी दे दें।

धनिया लगी घंटों कान देने—खुल्लम-खुल्ला दाद देने। जब ज़रा-सा रोग़न चढ़ा देती, वह आ जाता रंग में। बस, लनतरानियाँ लगीं सितारे चूमने।

ज़माने पर एक नई मल्लू फँसी है। कोठी क्या, मुहल्ले का

बच्चा-बच्चा उसकी दिलेरी और बहादुरी की कहानियों से ऊब चुका है। कोई डर के मारे उसके पास बैठता तक नहीं कि लिहाज में पड़ बैठा और वह हसबमामूल लिहाज छोड़ अपनी बीती लादने लगा, तो सुनते-सुनते पके कान लगेंगे फिर मवाद देने!

"अच्छा काका, कुछ हमें भी तो अपना गुण बता दो।"

"दुत्! तू औरत की जात—वह भी अंधी! पगली हो गई है क्या?"

आखिर चोरी-डकैती की इन कहानियों का असर एक कच्चे सिन के अनबूझ पर कुछ तो होना चाहिए। और कुछ न हो, एक कुतूहल तो जरूरी है।

भगवान जाने, बुलाकी अपनी जीट में कहाँ तक उबल पड़ा। उसे तालीम देना तो सम्भव न था; हाँ, हाथ की सफाई के एकाध चलते लटके किसी आवेश में कह गया हो, तो अचरज नहीं। जो बात हो, धनिया ने उन घरेलू नुस्खों का प्रयोग बुलाकी के सर पर ही शुरू किया। मियाँ की जूती मियाँ के सर!

एकाध चीजें इधर-उधर हुईं तो, खैर, वैसी कोई बात न थी; बुलाकी की आँखें टँग कर रह गईं। मगर जब एक दिन उसकी चिर-सहचरी गुड़गुड़ी जाने कहाँ गुम हो गई, तो कोठे के अन्दर एक तुमुल ले-दे की लीला चली।

बुलाकी की जान थी वह गुड़गुड़ी—बरसों की मुँहलगी। उसके अतीत के वैभव की निशानी तो थी ही, एक निविड़ नेह का नाता भी था उसके साथ।

यह चोरी तो बुलाकी की जान पर आ गई। उसके तमाम रंग उड़ गये। उसे खटका कि हो-न-हो भजुआ का यह काम है। वह रहा भी तम्बाकू का रसिया। जात का दुसाध, पर जमाने का चालिया। एक ही छँटा भी। ताड़ी और बीड़ी की मुँहलगी यारी ऐसी दिली हो चुकी थी कि जाने कितनी बार बुलाकी की लात खाई, पर लत न छोड़ी।

मैंने कहा—"बुलाकी! तुम तो कहते रहे कि तुम्हारे रहते इस हाते के भीतर न चोरी होगी, न बदमाशी। फिर यह चिराग़तले अंधेरा?"

बुलाकी शर्म से गड़ गया। बोला—"यही तो भाग का फेर है मालिक! अपना किया अपने सर लौट आता है। हमने दुनिया को चराया; बड़ों-बड़ों की धोती ढीली रही हमारे रोब से, और आज हमारी यह भद!"

बुलाकी की तमाम ऐंठ निकल गई। सैकड़ों मैदान का विजयी वीर कहाँ की अनजान आँधी छोकड़ी के हाथ से मुँह के बल आ गया! आज इस बुढ़ापे में उसकी पीठ में धूल लग गई। वह इस शर्म से ऐंठ गया।

बुलाकी फफक कर रो पड़ा। वैसे तो बाज़ार में गुड़गुड़ी

की कमी न थी, पर वह गुड़गुड़ी उसकी मुँहलगी थी। बगैर उसके दम में दम नहीं। शाम के जाम का मजा किरकिरा हो गया।

धनिया के आँखें न थीं, पर शायद उसकी आँखों मे पानी था। लगी उसका माथा सहलाने—"बस-बस काका! हम तुम्हारी गुड़गुड़ी ऊपर न कर दें, तो कहना···"

"अबे, तू कल की नन्हीं बच्ची; दूध के दाँत भी नहीं टूटे। आँख भी होती तो·····"

"हमारी मौसी पर देवी आती है न? पान-फूल जुगाकर अरज लगाऊँगी। देख लेना, भज्जू गुड़गुड़ी फेंक न दे, तो पागल होकर भूँकता फिरेगा!"

आदमी जब किसी भँवर मे लगता है उबचुब होने, और कहीं से कोई सहारा नहीं दीखता, तब वह सर ठोक कर फरिश्तों के सहारे के सपने देखता है। उसे जो चाहे वही किसी हवाई सहारे का चकमा देकर बात-की-बात में हवा बता दे।

पता नहीं, धनिया ने कब अरज लगाई—गुड़गुड़ी ज्यों-की-त्यों बुलाकी की कुटिया की पिछुत मे नमूदार हो गई।

इस खुशी में बुलाकी भूल गया छानबीन करना कि आखिर कफन फाड़ कर यह कहाँ से निकल आई।

बूढ़ा भी आखिर बच्चा हो जाता है। वह हो गया धनिया की गाद का एक बच्चा।

मैंने बुलाकी से कहा भी कि तुझे धनिया पर शक नहीं होता ? मुमकिन है, कहीं चुराकर रख दी हो उसी ने। मगर बुलाकी ने मेरे मुँह से बात छीन ली—"ना-ना मालिक ! भला, बेचारी ऐसा क्यों करने जायगी ? वह न होती, तो हम·····"

चचा के साथ तो धनिया की दाल गली, पर भतीजे की बारी गोटी लाल न हो पाई।

सूरदास के हाथ की लकड़ी गुम होती है। वह पड़ा फेर में। बिचारा गुलाब की झाड़ी पर गिरने से बाल-बाल बचा। इधर 'राधेश्याम' की रट लेकर वह धनिया से खिंचा था ही, लकड़ी जो गुम हुई, तो वह और भी भुन गया ! मगर धनिया के मत्थे खुले-आम इलजाम देने से रह गया।

"हाँ री धनिया, वह लकड़ी हमारी कहाँ रही ? तेरे पास ही तो धरी थी ?"

"कोई नाक की सींक है ? कितनी तो ढूँढ़ चुकी।"

उस दिन पंखे की ड्यूटी खत्म कर जब वह लगा दीवाल थाम सायबान की सीढ़ियों से उतरने की कोशिश करने, तो मैंने पुकार कर कहा—"ठहरो ! सामने सीढ़ियाँ हैं न ?"

मैंने चाहा कि भजुआ को बुलाकर उसे सीढ़ियों पर सहारा दिलवा दूँ, मगर भजुआ को पुकारते वक्त हठात् खटका कि सूरदास तो उसकी छाया से भी भड़क उठता है—एक तो वह

जाने कहाँ का म्लेच्छ, दूसरे बीड़ी और ताड़ी की वजह वह अछूतों का भी अछूत है—हमारे आचारी महाराज की निगाह में। भला, जान रहते वह जिस-किसके कंधे हाथ देने-वाला है ?

धनिया वहीं डोरी लेने आई है। इसी बीच बोल उठी—"सरकार ! सीढ़ियों पर एक ज़रा-सा सहारा चाहिये; आगे तो वह आप चला जायगा।"

मैंने समझा कि शायद अपने हाथ की लकड़ी यह थमा देगी। मगर उसने लकड़ी तो अपने हाथ में ले ली और सूरदास का कंधा थाम, सीढ़ियों से उसे लिये मजे में उतर चली।

मैंने जब टोका कि 'तू लकड़ी उसे क्यों नहीं थमा देता' ? तो वह मुड़कर बोली—"हमारे हाथ की लकड़ी है न मालिक ! इसका अंदाज उसे क्या होगा ?"

कंधे पर हाथ पड़ते ही सूरदास चिहुँक उठा—जैसे कि किसी ने अंगारे रख दिये उस पर ! चेहरे पर कशमकश के आँकड़े साफ खुल आये।

उसी सहारे काँपता-झिपता उतर तो आया, मगर दस कदम आगे बढ़कर धरती पर बैठ गया। कंधे से झोली उतारी और झोली से एक लुटिया निकाली। लुटिया से थोड़ा जल लेकर कुछ गुनगुना कर अपने सर और कंधों पर छिड़का।

वाह री नज़ाकत ! मुझे हँसी आ गई। पुकार कर पूछा—"यह क्या है, सूरदास ?"

"गंगाजल है मालिक ! झोली में साथ रखते हैं—जाने कब क्या हो जाय !"

मेरा तो ख्याल है कि सूरदास इन छींटों से शरीर की शुद्धि के साथ-साथ मन की शुद्धि भी समझता हो, तो कोई अचरज नहीं।

यह आचार की कट्टरता तो मुझे पाखण्ड की पराकाष्ठा-सी लगी; पर मैंने कुछ कहा नहीं, जब्त कर गया। देखा, धनिया के कान खड़े हो गये ! उसके नथने फड़क उठे।

सुबह सुनता हूँ कि लुटिया ग़ायब, रामनामे की चादर ग़ायब, माला ग़ायब !

मैंने कहा—खूब हुआ ! और रचिए आचार का ढोंग ! ज़रा-सा कंधे पर किसी का हाथ पड़ गया और जनाब की हवा बिगड़ गई ! अगर धनिया ने उड़ा लिया इन चीज़ों को, तो शाबाश ! जीती रह ! इस अक्ल के अंधे को अच्छा सबक़ दिया तूने !

यह तो ऐसी करारी चोट थी कि सूरदास वहीं ऐंठ गया। उसने झोली को मालती की डाल पर लटका रखा था। रात अब वह पंखे पर था, तो किसी ने पलखत पा निकाल लीं उसकी माला और चादर।

वह लगा सर पर आसमान उठाकर कहने कि माला और चादर तो उसके कवच और कुंडल हैं। गुरु महाराज के प्रसाद तो हैं ही, उसके धार्मिक जीवन के सर्वस्व भी हैं। वे नहीं, तो वह कहीं का नहीं रह पाएगा। न उसकी निष्ठा निभ पायेगी, न ब्रह्मचर्य की साधना। भगवान जाने, क्या चमत्कार है उस माला और चादर में! बलिहारी है उसके अंधविश्वास की!

बचपन में दादी से एक कहानी सुनी थी। किसी जालिम दानव के प्राण उसके बाग के एक फूल में बसते रहे। यह भेद, जाने कैसे, खुल गया और किसी राजकुमार ने कितने हमलों को सर कर उस फूल को तोड़ लिया। फूल का टूटना था कि वह दानव वहीं ढेर हो गया!

सूरदास के लिए भी वह माला और चादर कुछ वैसी ही अनमोल हैं। शायद उसके तरकस में कोई वैसा अस्त्र न था, जिसे लेकर शैतान के हमलों का मुकाबला करता!

तो क्या उसके शरीर की तृषित वृत्ति जाने-अनजाने जब किसी अभिसार की तलाश में उसकी मज्जागत मर्यादा की सलाखों पर पंख पीटती, तो वह इन्हीं धार्मिक उपचारों से उसे शान्त-संयत कर लेता? शरीर और मन के हमलों की ढाल थीं ये चीजें!

'नासेह को बुलाओ मेरा ईमान सम्हाले,
फिर देख लिया उसने मुहब्बत को नज़र से!'

मगर हाय रे अंधे! ऐसे भी इनमें क्या लाल हैं? कहीं

रामनामी की चादर सर पर बाँध कोई इस शरीर की सहज स्फुरणा को मुश्कें बाँध पाता है ? रामनाम की माला फेर हम इस मन के प्रवाह की दिशा को फेर पाते हैं ?

मगर कौन कहे ? सूरदास के ऐसा हिमालय-सा अटल विश्वास तो नहीं हमारा !

सूरदास की आत्मा चिल्ला उठी—यह धनिया है, धनिया ! वही आसमान से उतर आई है उसकी इतने दिनों की संचित तपस्या को छिन्न-भिन्न करने ! उसने रक्षा-कवच को तो चुरा लिया। अब वह बेहया निडर होकर आक्रमण करेगी और उसे नरक में ठेल कर दम लेगी !

सूरदास ने बुलाकी से कड़क कर कहा कि 'धनिया चोर है; उसे पास बैठने न दो !' मिट्ठू से बिगड़ कर कहा कि 'वह डाइन है; जाने क्या कर देगी !' मुन्नू से गिड़गिड़ा कर कहा—'वह डाकिन है, जाने क्या बला लाएगी !'

और एक मुँह से सबने पुकार कर कहा—"गवाह ?"

"मेरा गवाह तो एक परमेश्वर है !"

मगर परमेश्वर को गवाही के लिए तलब कौन करता ?

आखिर सूरदास की धनिया से झड़पें शुरू हुईं। साफ कह दिया कि "तू माला और चादर वापस नहीं देगी, तो मैं इसी मालती के तले दम तोड़ दूँगा। बैठता हूं आसन मार कर ! खाना-पीना हराम !"

और, वह बैठ ही तो गया दम बाँध ! धनिया आ गई रोब में। भाँप गई कि सूरदास बुलाकी नहीं। यह सत्याग्रह की धमकी कुछ बन्दर को घुड़की नहीं, प्राणों की बाजी है ! बोली—"तू ने योंही शोर-गुल कर रखा है ! देखा भी है कभी झोली टटोल कर ?"

"हाँ, सौ बार देखा है।"

"अरे भाई, जाकर देख तो सही ! हमारी देवी तो कहती हैं कि कहीं भी कुछ गई नहीं।"

कि डाल से उतार झोली जो टटोली गई, तो निकल आई उसकी लुटिया और चादर !

"माला क्या हुई ?"--सूरदास ने चीख कर पूछा।

"वह भी यहीं है। हम तो अंधी होकर भी देख पाती हैं।"

और सूरदास, जाने कैसे, ताड़ गया कि माला धनिया के गले में है।

उसने हाथ बढ़ा झपट कर छीनना जो चाहा, तो माला गई टूट। दाने बिखर पड़े। धनिया जो खिलखिला कर हँस पड़ी, तो सूरदास ने तड़प कर वह हाथ मारा कि बिचारी का सर आम के तने से टकरा गया। कनपटी गई खुल। फर्र-फर्र खून निकलने लगा।

कुहराम मच गया। दौड़ पड़ा भिटू। दौड़ आया बुलाकी। मैं तो बिलकुल पास खड़ा था, मौलसिरी के तले। जरा भी

खटका रहता कि यह तू-तू मैं-मैं संगीन हो उठेगा, तो सुलगने के पहले ही बुझा देता।

सूरदास पर पड़ने लगीं फ़बतियाँ। उसे तो काठ मार गया। माला टूटने की बात तो गई भूल। एक अबला पर यों हाथ छोड़ने का जुल्म उसके सर पर सवार हो गया!

लेने के देने पड़े। लगा हाथ जोड़ने। कहाँ वह उफान कि कोठी गरज रही थी; कहाँ ऐसा टूट कर झुक गया कि जैसे कोई हत्या लगी हो उसे!

उसकी हैंकड़ी की किरकिरी का अभिनय शायद उस चोट पर मलहम हो गया। धनिया ने मुँह बना माला ठुकराते हुए कहा—"जैसे कि तेरी माला किसी के काम आती! सोना मढ़ा रहता, तो जाने क्या कर बैठता तू!"

सूरदास के तो हाथ के तोते उड़ गये थे। और कुछ नहीं सूझा, तो उसने धोती का एक खूँट फाड़ उसकी चोट पर बाँधने को हाथ जो बढ़ाया, तो मिट्ठू ने धक्का देकर उसे हटा दिया—"चल, हट, आया है आग लगा कर पानी देने!"

❀ ❀ ❀ ❀

रात को पंखे पर सूरदास जब आया, तो लगा कहने—"सरकार! यहाँ तो हमारा अब गुजर नहीं। ऐसा यह सिल-सिला चला कि·····"

"कैसा सिलसिला?"

उसने जाने क्या गुनगुना कर कहा। मैंने तो कुछ सुना, कुछ नहीं सुना।

थोड़ी देर बाद फिर एक अजीब आलम में बोला—"मालिक! गुरु महाराज तो कहते रहे कि बैताल तो उसी डाल पर बार-बार आ लटकता है·····"

मैंने छेड़ कर पूछा—"कैसा बैताल?"

कोई जवाब नहीं।

उसने फिर कुछ कहना चाहा, पर होठों में ही बुदबुदा कर रह गया।

कह नहीं सकता, मेरे हाथ में कौन-सी किताब थी। उसी में बेतरह लीन था। सूरदास की भेद-भरी बातों की तह ढूँढ़ने की फुरसत न थी। जरा ऊब कर कहा—"अच्छा, रहो भी—कल सुनेंगे।"

कि कल होते सुना कि सूरदास बिस्तर लपेट जाने कहाँ चल दिया!

जी खिन्न हो गया! हो-न-हो, वह चलता बना। यहाँ का हवा-पानी उसकी खाल में नहीं खपा। किसी गहरी उमड़न में वह लगा था उबचुब होने।

जा भाई विदेशी, जा! हमारे यहाँ की मोह-माया से दूर, अपने साजन की नगरिया जा! यह दिल की मचलों की गली है—हँसने-रोने का देश। तेरा यहाँ गुजर नहीं!

उसके चचा से पूछा--"सूरदास किधर गया बुलाकी ?"

"वह तो मुँह-अँधेरे झोली-झक्कड़ लिए मठ पर चला गया मालिक ! कहता रहा—'हमारा धरम-करम यहाँ नहीं निभने को। यह छोकरी हमें राम से भी विमुख करके दम लेगी।' हमने तो लाख समझाया कि 'कहाँ की एक अंधी छोकरी की चुहल से सहम गया ? वह तेरा क्या कर लेगी ?' मगर वह सुनता है किसकी ? बोला—"नहीं काका ! हम तो चले। हो, जो होना हो।"

"अरे भाई, मठवाले उसका हाड़-हाड़ गला कर धर देंगे। अभी कितनी दूर गया ही होगा लाठी टेकता ! दौड़ जाओ, उसे वापस करो।"

"नहीं सरकार ! धनिया के रहते वह नहीं आने का। वैसे तो जहाँ चार बर्तन होते हैं, खटकते ही हैं, लेकिन दिन-रात की यह खटपट उसके धात में नहीं समाती ! वह ठहरा वैष्णव साधु। दरस-परस का बड़ा विचार है उसे ! और, मालिक ! बाप ने जो साधु का धन चुराया था, वह सर पर सवार है न ? अभी जाने कितने साल चुकाना पड़ेगा उसे !"

बुलाकी भी एक ही अड़ियल। टस-से-मस न हुआ। सूरदास को वापस लाने मँगरू को भेजा। वह गया। दूसरे दिन लौट आया कि वह तो आने को तैयार नहीं। आठो पहर राम के मन्दिर में पड़ा रहता है—आँसुओं से सराबोर।

गुरु की चरण-पादुका छाती से लगाए रखता है।

नए महंथ ने कहा कि उसे बड़ा पछतावा है कि वह क्यों राम-जानकी की सेवा छोड़ दुनिया में भटक पड़ा! जब संसार के काँटों में उलझ कर लहूलहान होने लगा, तब जीवन के लक्ष्य की सुध आई। अब उसे और कहीं गति नहीं है!

मँगरू से यह और पता चला कि महंथ जी उसे हाथ-पर-हाथ रख राम-जानकी की सेवा में रहने देने को तैयार नहीं। वही तेवर है कि फिर वह शहर में चक्कर दे, खँजड़ी बजा-बजा कर भीख माँगे। उधर सूरदास राम-जानकी का साया छोड़ किसी तू'बाफेरी के लिए तैयार नहीं। मगर चारा?

सूरदास नहीं लौटा—नहीं लौटा। दो-चार दिन इन्तज़ार कर चौकीदार से कहा कि तुम किसी और को उसकी जगह पर तलाशो, भरसक उसी टक्कर का हो। हाँ, कोई अन्धा अनाथ लाना, जिसे और कहीं गुजर नहीं।

रात में धनिया जब पंखा लेने को आई, तो देखा, वह गुमसुम है। वह फुर्ती, वह चुस्ती कहाँ खो गई! वह पंखा क्या खींच रही है—बेगार टाल रही है।

मुझे जाने क्या सूझा, हठात् पुकार बैठा—"धनिया!"

"जी मालिक।"

"सच तो कह, तूने बुलाकी की गुड़गुड़ी क्यों चुरा कर रख दी थी?"

"....."

"और सूरदास की माला-चादर ?"

"....."

"बोल, डर मत !"

"सरकार ! चाचा तो बड़ा डकैत मर्द बनता रहा, भतीजा बड़ा भक्त। बात-बात में वही तेवर ! हमसे उसकी ऐंठ सही नहीं गई। सरकार तो देखते ही थे कि सूरदास का कहीं एक छोर छू गया, तो बाप रे, जैसे हम कोई भांगन हैं। आठो पहर 'छी-छी, दूर-दूर'। खींचने को पंखा, बनने को कहाँ का महात्मा ! हमने कहा—हे मन, उड़ाओ यह माला और यह चादर। न रहेगा बाँस, न बजेगी बाँसुरी।"

मैंने हँसकर कहा—"तो सूरदास को तूने भगा दिया। ले, अब खींच सारी रात !"

वह उदास-सी बोली—"ना मालिक ! उसे राम की लगन ले गई। उसे रह-रह कर यही लगता रहा कि यहाँ राम का नाता नहीं निभेगा—"

"और तू चाहती रही कि राम का नाता छोड़ वह तेरा पुछल्ला बनकर रहे। ले, अब तो लौट गया अपने राम के देश।"

वह झेंप-सी गई। बोली—"ऐसा ढोंग नहीं रचता, तो हम काहे को उसे छेड़ने जाती ?"

"वह ढोंग नहीं, उसका हठ है। जो हो, तू तूफ़ान-सी न आती तो वह वहाँ से नहीं हिलता। जाने किस दशा में होगा बिचारा!"

"तो हम क्या करें मालिक?"

"क्यों? तू जाकर उसे इतमीनान दे कि तू उसे छेड़ती नहीं चलेगी—अलग बचकर रहेगी, तो शायद वह कान करे!"

"हम कैसे जायँ मालिक? एक तो आँख नहीं, दूसरे हम कौन उसकी?"

मगर अजब शुदनी! पाँच-सात दिन बाद वह इसी सड़क से खँजड़ी पर गाता हुआ निकला—"अब लौं नसानी, अब ना नसैहौं!"

मेरा कमरा ठीक सड़क के सामने है। ताज़ी जलेबियों की हाँक के साथ एक भर्राये गले का सुर कानों पर गूँजा।

मैं उठकर सामने फाटक पर आ गया।

जाने कैसे, फाटक के सामने आते ही उसके क़दम कुछ रुकते-से दीख पड़े। भगवान जाने, उसे पता था कि वह कहाँ आ पड़ा है। कोई अदृश्य शक्ति उसे इधर खींच लाई हो, तो अचरज क्या? जो हो, देखता हूँ कि उसका चेहरा उतरा हुआ है, देह कुछ छीज-सी गई है, मुख पर वह परिचित प्रसन्नता की लहर नहीं। मेरा कलेजा धक्-से कर उठा—बिचारा भाड़े के टट्टू की तरह खट रहा है गली-गली।

मैंने पुकारकर कहा—"सूरदास! क्यों नाहक यह धूल फाँक रहे हो? क्या यहाँ तुम्हें राम-भजन का सुभीता काफी न था?"

वह चौंका। चट दोनों हाथ जोड़ लिये। बोला –"राम की मर्जी!"

"तो यहाँ पर राम की मर्जी में कोई अड़चन थी?"

"सरकार! धनिया ने हमें कहीं का नहीं रखा। ऐसा सिर हो गई थी वह कि क्या कहूँ!"

"वह बिचारी तो खुद पछता रही है। सच मानो, भूलकर भी अब नहीं उलझेगी तुम से—"

बात पूरी भी न हो पाई कि धनिया जाने कहाँ से लाठी टेकती फाटक के पास आ टपकती है। शायद सूरदास के गले की आवाज मकान की पिछौत में भी उसके मन के कानों पर बोल गई।

वह गिड़गिड़ा कर सूरदास के पैरों पर लोट जाती है— "मालिक! गुरु गोसइयाँ की सौगंध, आज से····· "

सूरदास ने चीख कर 'छोड़-छोड़, पैर छोड़' तो कहा, पर उसके क़दम अनायास उठ आये फाटक के भीतर और वह चुपचाप आकर बैठ गया उसी मालती के तले।

उसका साथी हक्काबक्का वहीं खड़ा-का-खड़ा रह गया। मैंने

एक अठन्नी फेंक दी उसके सामने। कहा—"जाओ, सूरदास का लोटा, कम्बल, जो कुछ हो, कल दे जाना।"

कमरे में लौटते वक्त मैं दबे पाँव उस झाड़ी की ओर मुड़ गया। देखा--धनिया मालती की एक डाल थामे चुप खड़ी है। उसकी गोद में फूलों की एक लड़ी भी है। आखिर तो मालिन की बेटी! गूँथ रही होगी स्वागत की कोई माला!

सूरदास चुप बैठा आसमान की ओर अपनी सूनी आँखें उठा जाने क्या सोच रहा है और टप-टप चू रही हैं उन आँखों से आँसू की बूँदें।

वह रो रहा है कि वह कहाँ आ गया या वह रो रहा है कि वह कहाँ जा पड़ा था! विषाद की बूँदें हैं या उल्लास की—यह रहस्य तो वही जाने या उसके राम!

"अच्छा, ले, हम नहीं जाते। मगर समझ रख, रात के पंखे पर तू आई कि बस ..."—सूरदास ने अपने को सम्हाल-कर कहा।

"तो रात-भर अकेले खट लोगे?"

"हाँ! दिन को सो लेंगे।"

"दिन में पूजा-टूजा जो है! सोओगे कब?"

"मँगरू है न! दो घंटे भी रात में साथ दे गया, तो काफ़ी है!"

"मँगरू? वह रहा-न-रहा बराबर।.....अच्छा जो जो

चाहे, करो। मगर वह न आया; तो फिर हमें दोष न देना !

"फिर वही जिद ! तेरी देह में कुछ है भी कि जिस-किस के लिए यों जान देगी ?"

मगर उस 'जिस-किस के लिए' जान देने में ही उसकी जान की पनाह हो, तो ? अरे कम्बख्त ! उस दुबली-पतली देह के तले क्या है, क्या नहीं है—तू क्या जाने ?

धनिया ने एक मीठी हँसी हँस कर कहा—"जैसे कि तुम जानते ही हो कि हम में क्या है ?"

"जानते नहीं ? कूट-कूटकर शरारत तो भरी है; तभी तो फिकिर लगी रहती है कि तू जाने कब क्या कर बैठे ! इतनी भी तुझे समझ नहीं कि हम ठहरे-वैष्णव—राम के दास और तू एक..... तेरा यह आसपास..... "

"बस, रहो भी ! जैसे हम तुम पर गिरती-फिरती हैं !"

और, वह अजब खिसियानी-सी गोद की अधगुँथी माला सूरदास के मुँहपर फेंक लौट चली।

"अच्छा, ले, यह प्रसाद लेती जा !"—सूरदास ने झोली से एक अधपका आम, जिधर वह खड़ी थी उसी ओर लुढ़का दिया।

धनिया अब रात के पंखे पर नहीं आती। वह चाहती तो रही आना, पर आने पाए जब तो!

बुलाकी और मिट्ठू ने मिलकर यह तय कर लिया कि इन दोनों को अलग ड्यूटी पर रखना ही कुशल है। कौन कहे, कहीं यह अल्हड़ छोकड़ी, खेल में ही सही, सूरदास से उलझ पड़ी और फिर कहीं तैश में आकर उसने हाथ की लकड़ी चला दी, तो एक तो बिचारी को अपने ही दम नहीं; चोट पड़ी, तो खाट थाम लेगी।

इस बार मठ से लौटकर सूरदास की रूटीन में तबदीली हो गई। पहले वह दिन-भर पास की ठाकुरबाड़ी में पड़ा रहता। जब ड्यूटी से फुरसत पाता, गले में झोली डाल हाथ में लाठी थाम, मन्दिर का रास्ता लेता। वहीं कुएँ पर नहाता, विग्रह के

सामने बैठ पूजा-प्रार्थना करता, धूप-दीप दिखाता, झोली से मिसरी की डली निकाल कर भोग लगाता और वहीं प्रसाद पाता। तुलसी-सतसई उसको बहुत कुछ कंठस्थ थी। बड़े मधुर सुर से झूम-झूमकर भजन गाता! वहीं सायबान के खंभे से पीठ टेक बैठ रहता और माला फेरता।

अब वह घंटे-दो-घंटे मालती के साये में बैठने लगा है। बैठे-बैठे माला फेरता है। एकाध भजन भी गुनगुना लेता है।

अक्सर धनिया भी वहीं आकर बैठ जाती—दो हाथ अलग। हाँ, उसकी झोली नहीं छूती। उसके सिर नहीं होती। वह ले-दे, वह छेड़छाड़ कुछ वैसी नहीं।

मगर चुहलबाजी के रुझान को जब्त रखना उसके लिए एक कठिन साधना है। वह चाहती तो है उसे हाथ में रखना, पर हाथ में आये भी तो कम्बख्त! अक्सर उसके अनजाने भी वह अनायास उघट पड़ता है और तब वह झपटकर मन की बाग मोड़ने लगती है। हाँ, सूरदास की जबान पर मठ वापस जाने की धमकी नंगी तलवार-सी तनी रहती है! एकाध दिन तो ऐसा लगा कि फिर बे-बात की बात बढ़ी और वही हंगामा खड़ा हुआ। मगर, सूरदास ने ज्यों फाटक की ओर रुख कर अपनी पीठ दिखाई कि पल में वह लौ बुझ गई।

❀ ❀ ❀

आइए, थोड़ी उनकी रकझक देखें।

सुबह आठ का वक्त है। धूप तो निकली है, मगर हवा में एक मीठी खुनकी की वजह वैसी गर्मी नहीं है। झाड़ियों की आड़ में किताब लेकर बैठना एक सैर का लुत्फ़ है। भला, ऐसे सुहावने वक्त कोठी के अन्दर बैठे रहना तो बैठे-बिठाए दिल घोंटना है। मुझे ऐसे बदशौकों पर तरस आती है, जो खुले में रह घेरे में घिरे रहने की लत पालते हैं और रह जाते हैं सिमट कर एक दायरे के भीतर।

सूरदास झाड़ियों के उस पार मालती के झोंप के साये में माला फेरता चुप बैठा है। भगवान जाने, वह ध्यान में मगन है या किसी उधेड़बुन को धुन है उस पर! कमर में एक लंगोट है, गले में चादर, बस! मगर कैसा दीखता है वह सुडौल, सुन्दर!

हठात् बायीं ओर जामुन की गाछ के तले के सूखे पत्ते चर-मर बोल उठे। हो-न-हो, किसी के अल्हड़ पैरों की चुल-बुलाहट है यह!

सूरदास के चेहरे पर लहू की एक लहर-सी दौड़ जाती है। वह चौकन्ना-सा कान खड़े कर लेता है। अपने अनजाने ही उस ध्वनि की दिशा की ओर उसका सर मुड़ता है। पर, एक झिझक से गर्दन फेर वह हाथ की माला को जैसे भरपूर पकड़ लेता है और आवाज़ उठाकर अपने को ही सुना-सुनाकर लगता है 'सीताराम-सीताराम' करने!

धनिया सूखे पत्तों को रौंदती, हाथ के डंडे को ईर्द-गिर्द फेंकती, एक अजब आवेश में आती है। बदन में लिपटी एक टटकी धोई धोती है, बस !

वह उभरी हुई जवानी-सी कुछ ऐसी झूमती आ रही है जैसे कि दुनिया में और कुछ क्या है--वही सब कुछ है ! भींगे बाल हवा में उड़ रहे हैं, तो क्या; कमर बलखाती है, तो खाय; और साड़ी का पल्ला उड़-उड़कर·····मगर ठहरिए, इस अल्हड़ आँचल की अठखेलियाँ किसी आँखवाले के मुलाहिजे के लिए नहीं। जब वह उसे खुद नहीं देख पाती है, तो फिर उसे हमारा देखना तो जाने कैसा दीखेगा !

आखिर तो आँचल का पल्ला ! क्या जाने, ऐसी नादान जवानी की लहर पर तिलमिला ही पड़ा···उड़ ही चला···!

अजब साइकॉलॉजी है इन अंधों की ! हम अंधे तो जग अंधा ! यह न होती, तो दिन-दहाड़े वह यों आँचल लुटा आती ? मगर हाय रे सूरदास ! काश तुम कहीं इस निखार की छटा को--इस खरामेनाज़ की अदा को--अपनी आँखों से देख पाते ! उसे एक बार देखकर भी कुछ न देखते, तो हम मान लेते कि तुम्हारी आँखें इस पार नहीं, उस पार हैं। यों तो अपने राम की बात तुम खुद जानो !

कि मन से कानों पर आवाज़ आई--"क्यों धनिया, यह सबेरे-सबेरे कैसे ?"

"हम भी रामनाम लेने आई हैं, भाई !"

और चुप-से हँसकर वह उस छोटे-से सहन के एक छोर पर घुटने टेक बैठ जाती है।

"एकदम ?"—सूरदास ने चौंक कर पूछा।

"हाँ-हाँ, अभी···"

"हैं-हैं ! यों नहीं फूहर ! जाने कहाँ लोटती रही होगी तू····"

अजी वाह ! यह अच्छा स्वागत है ! बिचारी कितनी रूखन में आई है !

उसी पल उसके भीतर जाने क्या टूट गया ! वह एक अजब झल्लाहट से बोली—"जैसे कि हम भी वह भजुआ हैं ! जानते हो, यहाँ कभी की नहा चुकी ?"

"अच्छा-अच्छा, तो ले, अब कहती चल--हरे राम, हरे राम, राम राम···!"

"राम-राम ! भला, ऐसा भी कोई कहता है ?"

"कैसे ?"

"जैसे कि तुम कह गये !"

"क्यों, ऐसे में क्या रखा है ?"

"तुम्हारा सर ! सुनो, हम कहती हैं--'जय सियाराम'।"

"जय सियाराम !"

"जय जय सियाराम !"

"जय जय सियाराम !"

"जय जय राधेश्याम !"

"यह क्या कहा तूने ?"

"और तुमने वह क्या कहा था ?"

"हम नहीं कहते !"

"तो हम भी नहीं—लो !"

"बस, उतर गई भक्ति की पिनक ?"

"हाँ, उतर गई !"

"रही तू पंखाकुली की कुली !"

"और तुम ? तुम तो जैसे कहाँ का राज पा गये !"

"पाने को बाकी ही क्या रहा, पगली ? सब कुछ तो अपने मन पर है। मन से राजा, मन से रंक !"

"ऐसा ?"

और उसके होंठों पर जैसे एक व्यंग्य-भरी व्यंजना-सी फूट आई कि 'हाँ जी, हाँ ! सब तो पाया, पर किसी के दिल की दुनिया का पता भी पाया तुमने ?'

और वाह री मिज़ाज की चुस्ती ! वह एकबारगी फट पड़ी—"रहने भी दो ! तुम्हारे जैसा मन तो, राम न करे किसी दुश्मन का भी हो !"

सूरदास को यह क्या ! जैसे बर्फ पड़ गई उस पर ! मुँह बनाकर बोला—"तो तू राम का नाम नहीं लेती ?"

"नहीं लेती !"

"नहीं ?"

"नहीं जी, नहीं !"

"मत ले, पछताएगी आप ।"

"तुम्हारा क्या ?"

"क्यों,···हाँ, हाँ, हमारा क्या ? लेकिन···"

"फिर लेकिन क्या ?"

"यही कि तू···नहीं, कुछ नहीं, जैसी राम की मर्जी !"

और धनिया दाँत किटकिटाकर तैश में बोली—"जी तो चाहता है, तुम्हारी झोली-सुमरनी तोड़-मरोड़ कर चूल्हे में झोंक देती !"

"बस-बस, अब हम नहीं टिकते यहाँ !"

"जाओ ना—हमारा क्या ?"

"तो जायँ ?"

"कह तो दिया जाओ !"

"अच्छा, ले, हम चले घर ।"

सूरदास ने झोली-झक्कड़ सम्हालनी शुरू की और उठ खड़ा हुआ ।

"जाओ भी ! जैसे तुम्हारे लिये कहीं किसी की छाती फट रही है !"

कि इतने में सूरदास के हाथ की लकड़ी पट-से छूट गई ।

"देखो, जिसे जाना होता है, वह यों जाता है !"—धनिया चट लकड़ी उठा फाटक की ओर कदम उठाती हुई बोली।

"अबे, तू चली कहाँ ?"

"जहाँ जी चाहे--"

"भला, तू क्यों जाने लगी ?"

"और तुम क्यों जाने लगे ?"

"हम तो नहीं जाते !"

"हम भी नहीं जातीं !"

और, दोनों वहीं-के-वहीं भरे हुए बैठ गये।

जब वह मीठे सुर में रहती, तो पूजा के लिए एकाध माला गूँथ देती, गोचर-माटी से वह छोटी-सी सहन लीप देती, झाड़-बुहार करती और चुपचाप रामायण की चौपाइयाँ सुनती।

कभी-कभी तो दोनों घंटों चुप रहते। एक दूसरे से अलग। कोई बात नहीं, कोई हरकत नहीं। पर कौन कहे, एक-दूसरे से भरे हुए; एक-दूसरे से उभरे हुए। और, हो-न-हो, एक-दूसरे में खोए हुए। और, दोनों के बीच खेलती रहती मुकुलित मालती की मृदुल बयार।

एकाध बार तो ऐसा लगा जैसे उन दोनों के दरम्यान कोई दीवार है, तो वह उनकी देह है—गो उस घड़ी शरीर की सत्ता नहीं के बराबर है उनपर। उस नीरव निःस्पन्दता के तले उन दोनों की अन्तर्वृत्तियाँ गङ्गा और यमुना की लहर-सी एक हैं।

मौन की तह में जाने कितनी व्यंजना है! वह दोनों यों बैठे-बैठे क्या सोचते, क्या देखते, क्या सुनते, क्या बोलते! जब दिल के अन्दर दिलवर के दीदार का रसपान है, तो फिर वाणी का विलास कैसा! मुझे तो ऐसा भासता रहा जैसे भीतर-ही-भीतर वे कुछ देख रहे हैं, कुछ सुन रहे हैं, कुछ कह रहे हैं। और, उन दोनों के मर्म की गम्भीर तह में सहानुभूति का एक दरिया मौज़ पर है।

याद नहीं, कहीं सुना है कि जिसे आँखें देख नहीं पातीं, उसके लिए दिल नहीं रोता। मगर मेरी तो धारणा रही है कि आँखों की दलाली के बगैर भी दिल का सौदा पटना अचरज नहीं। वीरान में भटकते हुए भौंरों के निकट हवा उड़ा ले जाती है फूटती कलियों की गन्ध।

शायद दो को एक करने का चरम सेतु है यह चुप्पी। किसी की दलाली यहाँ नहीं चल पाती—न आँख की, न कान की, न स्पर्श की, न ज़बान की। फिर भी कितना निविड़ है प्राणों से प्राणों का अभिसार—प्राणों में प्राणों की झंकार। जैसे एक ने उँड़ेल दिया अपने को दूसरे के दिल के पैमाने में।

वाणी चुप है, अनुभूति बोलती है। चेष्टाएँ अचल हैं, भावनाएँ चंचल। ऐसी मुखर नीरवता, इतनी सजीव निश्चेष्टता!

सूरदास मालती के झोंप के साये में है, धनिया झोंप के

छोर पर। बीच में पड़ी है लताओं की चिलमन। वह उस पार--यह इस पार।

लोग आ रहे हैं, जा रहे हैं, देख भी रहे हैं; पर किसी को कब पता है कि इन दोनों के बीच गतिशील है प्राणों की एक निविड़ पुलक-लीला। एक-दूसरे से अलग दीखते हैं तो क्या, पर एक-दूसरे के ऐसे अन्तरंग हैं जैसे चाँद और चाँदनी।

मगर हाँ, ठहरिए। कहीं मेरी लेखनी इस सीधी-सादी घटना पर रंग तो नहीं भर रही है! संभव है, सूरदास भगवान के ध्यान में विभोर बैठा है और धनिया गुपचुप किसी शरारत की बन्दिश में दिमाग की बिसात पर गोटियाँ रख रही है!

नींद की कमी तो वैसे मुझे बराबर रहती, पर गर्मियों में तो कहीं 'टू' भी हुआ कि आँखें खुल पड़ीं।

कह नहीं सकता, रात कितनी गई होगी! आँख लगे थोड़ी देर भी न हुई होगी कि सूरदास के कड़ाके की आवाज तड़ाक से कानों पर फट पड़ी और आँखें खुल गईं–"तू फिर आई?"

और उसी छन एक हलकी आवाज आई––"करती क्या, मगरू तो बीमार है। तू अकेला रात-भर खटेगा?"

"तो तेरा क्या?"

पर धनिया जैसे काछा बाँध मैदान में आई है। साफ देखा––वह धड़ल्ले से सवार हो जाती है सूरदास के सर पर और लगती है हाथ बढ़ा पंखे की डोरी थामने।

"हैं-हैं! आज एकादशी है। छूना मत....." और सूरदास बायीं ओर मुड़ गया।

मगर धनिया कब सुनती ? झटपट उसने डोरी थाम ही तो ली ! इस खींचतान में सूरदास की छाती से उसके कंधे भिड़ गये।

सूरदास भी आ गया तैश में। तड़प कर चील-झपट्टे से उसने डोरी छिननी चाही कि हाथ का वार ऐसे जन्नाटे का पड़ा कि बिचारी दुबली-पतली धनिया कोने के खंभे से टकरा कर बरामदे के नीचे तिलमिलाती हुई जा पड़ी।

जमीन से बरामदा काफी ऊँचा है। उस ऊँचाई से लुढ़क कर काफी चोट लग सकती है। मुँह से चादर खींच मैं उठने ही को था कि ख्याल हो गया कि वह घास की लॉन पर गिरी होगी; कोई डर नहीं।

उसका धम-से गिरना है कि सूरदास का तमाम ताव हिरन हो गया। एक छन सुधबुध भूल ठिठका रहा—क्या करे, क्या नहीं करे ! यह कैसे हो गया ? उसे कहीं कुठौर चोट तो नहीं लगी ?

दूसरे पल वह चट हाथ टेक सायबान से कूद पड़ा और समेट लिया धनिया को खुले हाथों पर।

वह भूल गया अपना व्रत ; पी गया अपना प्रण। शरीयत का तकाजा कुछ भी हो, ऐसे पल में आदमीयत का तकाजा सब पर बाला है।

उसे दोनों हाथों से समेट धीरे-धीरे सीढ़ियों से ऊपर

चढ़ आया और वहीं ठिठका लगा सोचने कि क्या करें—उसे कहाँ रखें !

धनिया को चोट कहाँ है, कितनी है—पता नहीं ; पर वह सूरदास की छाती पर दुबकी-सिकुड़ी अधमरी-सी पड़ी है। उसके दोनों हाथ सूरदास के गले में झूल रहे हैं। एकाध बार सिसक कर वह हाथ-पाँव तोड़ जाने कैसी हो गई।

सूरदास की पहली झिझक तो कुछ ऐसी लगी कि वह इस गले के हार को तोड़-मरोड़कर फेंक देगा, मगर सायबान पर जब वह उठ आया, तो शायद उसे यह पता चला कि यह काँटों का हार नहीं; किसी की मृणाल-भुजाओं का हार है; यह एक तरुणी के शरीर का सुकोमल मदिर-स्पर्श है, और यही है नारी के यौवन का अनुपम दान, जिसे पाने के लिए यह जीव इस सुख-दुख भरी धरती पर शरीर लेता है।

मैं तो बिलकुल अँधेरे में था; पर गैस की बत्ती की रोशनी सायबान के उस कोने पर साफ थी। मुझे लगा कि सूरदास एक अजब हैसवैस में है—चकराया, घबराया-सा।

कौन कहे, कहीं उसके भीतर विरोधी भावनाओं की तरंगें न उठती हों ! बाप रे, यही न है वह—वह, जिसे गुरु-महाराज कहा करते—'बचकर रहना सूरदास ! धधाकर छूए कि लहर चढ़ी।' तो क्या यही है युवती का विप्लवी स्पर्श, यौवन का चरम-रहस्य ? ओफ़ ! कितना उन्माद है इसमें ! कितना

स्वाद भर दिया है भगवान ने इस विष में ! मगर हाँ, जो इस बाट पर गया, वह राम को खो चुका ! बोल रे मन ! बोल, तू क्या चाहता है ? यह या वह ? यह तो करतल है और वह सुदूर, वर्षों की साधना का लक्ष्य ! बोल, क्या लेगा—यह या वह ?

और उसके अन्तर की एक ओर से तुमुल चीख-सी उठी होगी—यह, यह, यही !

उसी छन दूसरी ओर से किसी ने डपट कर कहा—खबरदार ! यह नहीं, हजार बार वह !

संभव है, सूरदास इन्हीं दोरुखी धाराओं के बीच टकरा कर रह गया।

कि हठात् दीवार की घड़ी से चार की टनटनाहट होती है और पिछुत के मन्दिर से मंगल-आरती की घंटा-ध्वनि उस सुनसान में हवा पर गूँजती हुई आती है—"जय सियाराम जय जय सियाराम !"

और सूरदास ने एक झटके से उन हाथों को गले से तोड़ उसके निश्चल शरीर को गच पर पट-से रख दिया।

वह कोने से लकड़ी टटोल सीढ़ियों से उतरने लगा, तो, उसे खटका कि पंखा रुकने की वजह कहीं मालिक की नींद टूट गई, तो ?

वह ठमक पड़ा। लगा डोरी टटोलने। डोरी न मिली। मिलती कैसे ? वह तो सिमिट कर मेरी पलंग के पास पड़ी

थी। उसने तलाश बन्द कर दी। अजब नहीं कि उसने समझा कि भोर की घड़ी आ गई है, हवा में मज़े की खुनकी है; पंखे की वैसी हाजत नहीं।

वह कंधे झाड़ फिर उठ पड़ा। सीढ़ियों की ओर रुख किया। मुझसे न रहा गया। टोक दिया—"अरे भाई, उसे यों ही छोड़ कर चल पड़े?"

सूरदास मेरी आवाज पर एकबारगी चौंक उठा। लगा माथा खुजलाने। बोला "सरकार! वह सिर हो गई। हम करते क्या?"

"हाँ-हाँ, सो तो ठीक है; मगर उसे उठाते तो जाओ!"

"मालिक! भगवान के मंदिर में हम क्या मुँह लेकर जायँगे?"

वाह रे खब्त! हठात् यह धुन सवार हो गई कि एक नारी को यों गोद में उठाकर उसने वैष्णव आचार की पवित्रता पर चोट पहुँचाई! हृदय में करुणा का वह क्षणिक आवेश अब लगा है खलने!

और, वह जाने क्या बड़बड़ाता सीढ़ियों से खट-खट उतर जाता है।

दो क्षन बाद कुछ कराहती-सी, कुछ सिसकती-सी धनिया करवटें बदलती है और अँगड़ाई लेती उठ बैठती है।

मैंने उठकर उसके हाथ में लकड़ी दे दी। कहा—"क्यों नाहक उसे छेड़ती चलती है?"

धनिया सिसक कर बोली—"हाँ, मालिक! हमीं न सब हैं! वह तो साधु ठहरा! उसके सात खून माफ़ हैं।"

मैंने हँसकर कहा—"साधु होना कोई खेल है?"

"जो हो, बना तो है! आज हमारा सर फट जाता···"

धनिया उसी तरह तिलमिलाती उतर गई।

इठात् मौलसिरी के साये से सूरदास की आवाज आई—

"चली आ इधर—हाँ, कुछ चोट तो वैसी न आई?"

कोई जवाब नहीं।

"कह तो सही! कहीं तू सर के बल जा पड़ती तो?"

"चल, हट! तू आदमी है या..."

और वह एक अजब तैश में अपनी झोपड़ी की ओर मुड़ गई।

सुबह के आठ बजे होंगे। नहा-धोकर बाहर जाने को तैयार। देखा, बुलाकी धड़ल्ले-से मौजूद। चेहरे पर हँसी खेल रही है, पर वह ज़ब्त नहीं कर पाता। कुछ कसमस-सा कर रहा है।

"आज कैसे सबेरे-सबेरे बुलाकी ?"

"सरकार! क्या बताऊँ? रात तो धनिया ने कमाल कर दिया !"

"अच्छा !"—मैंने ज़रा मुस्कुरा कर कहा।

"सरकार, असल चीज़ है आदमी की पहिचान—कौन किस लायक है। बूढ़े तो ज़रूर हैं मगर काठी तो पुरानी है। वही पट्ठा जो हम तैयार कर दें, दूसरा तीन जनम में भी नहीं कर पाएगा! बात असल यह है कि हमने किसी की पेशानी की लीक देखी और चट भाँप लिया कि

इसके चोले में गुर्दा है या नहीं। गुर्दा पाया, तो हाथ में लिया नहीं तो साफ़ जवाब—'जाओ भैया, तुम अपना रास्ता देखो।'

"मगर यह तो तुम्हारा कमाल हुआ, कुछ धनिया का नहीं! उसने क्या कमाल किया?·····"

"हाँ, सरकार, धनिया को तो हमने देखते ही पहिचान लिया कि अलबत्ता इसमें है कुछ! यह कोई ऐसी-वैसी नहीं! आज आँख रखती, तो सरकार देखते, हम उसे क्या बनाकर धर देते!"

"मगर ठहरी तो वह औरत!"

"उससे क्या हुआ मालिक, जानदार तो है! असल चीज है जौहर। मालिक की मर्ज़ी चाहे जिस चोले में रख दे। सुहागी खलीफा की जोरू तो वह पटे और बाने फेरती कि बड़े-बड़े मर्द दाँतों तले उँगली रखते। कहीं धनिया किस्मत की मारी अंधी न होती तो हाथ की सफाई में मर्दों के कान कतर लेती!"

मेरी ज़बान पर तो आया कि कह दूँ कि "वैसे भी क्या कम है!" मगर होंठ तक आते-आते जब्त कर गया।

"अच्छा, वह कमालवाली बात तो तुम···"

"हाँ मालिक, उसमें चुस्ती जो हमने पाई तो एकाध छोटी-मोटी पैंतरे की चीज उठते-बैठते बता दी। यों इस तरह कल्ले का तोड़···अबे ओ मँगरू! ज़रा देख तो सही, वह निगोड़ी धनिया कहाँ मर रही है!·····कह आये थे सरकार के पास

आने को न !·····भला, मालिक से पर्दा क्या·····? तो सरकार, वह ठहरी अंधी; कोई सरपरस्त नहीं। जो जी चाहे उस पर वार कर दे, तो फिर वह कब बचा पाती अपनी आबरू ?·····मगर आज करे तो उस पर कोई वार ! कहीं भी छेड़ कर देख ले—आँखें न सही, पर वह पटे का हाथ देगी कि बच्चू जमीन थाम न लें, तो बुलाकी नाम नहीं !"

मुझे हँसी आने लगी। अभी दस दिन हुए, बगैर किसी छेड़छाड़ के उसने उस्ताद ही पर हाथ साफ़ किया था कि सिट्टी-पिट्टी गुम थी। भूल गये अपनी हजामत ! मगर हाँ, बुलाकी को पता तक न था कि किन हाथों के उस्तरे ने उसका सर मूड़ा।

"सरकार ! वह भजुआ जो है न, एक ही बदफेल है। रात हमारे पिछवाड़े जाने कब से टक लगाये बैठा रहा। उसे पता था कि धनिया हमारे ओसारे में बैठ दही विलोल रही है। वह कुएँ पर पानी लाने को निकली, तो चट उसने समेट लिया अपनी छाती में। वह तो समझता रहा कि अगर राज़ी हो गई तो खुल पड़ेंगे; नहीं तो क्या अंधी को क्या पता होगा कि कौन है ? मगर उस बकलोल को यह पता कहाँ कि धनिया के हाथों में आँख है ! हाथ पड़ा और ताड़ गई कि भजुआ है। बस, उस पाजी की गर्दन पर दोनों पंजों को जमा कर वह दबोचा कि लगा उसका दम घुटने। धनिया ने वहीं से

आवाज दी कि 'काका ! यह देखो भजुआ की बदजाती !'

"हम जो पहुँचे तो देखा, भजुआ दो हाथ अलग तो सरक गया है, पर गुस्से में बहुत अनाप-शनाप बक रहा है—'अच्छा-अच्छा, तुझे ऊँची छाती का दिमाग़ है न ! कसम जवानी, झाड़ न दें हम···!'

"कानों में यह आवाज़ आई कि हमने उसकी गर्दन थाम ली। कसकर ताबड़तोड़ वह लात जमाई कि उसकी पीठ को हड्डियाँ मड़मड़ा गईं। धनिया बीच में पड़ रोक न लेती तो बुलाकी के मत्थे बुढ़ापे में कल एक और खून चढ़ता।"

"फिर तो बुलाकी, जब यह कमर है तो जाने कितने लहंगे फटेंगे ! कहाँ हम समझते रहे, वह बिचारा दीन है—गऊ · "

"ऊँह ! जैसी लम्बी टीक, वैसी लम्बी जीभ है उसकी। बाहर से कुछ पता चलता है किसी का ?·····"

"अरे भाई, ऐसे को कोठी में रखना भी नहीं चाहिये—कब क्या कर बैठे !"

"फिर सरकार ? बुलाकी की लात खाकर ? नहीं, नहीं इस जनम में नहीं। वह उसे मरते दम याद रहेगी !"

"ऐसा ?" मैंने हँस कर कहा।

"और क्या मालिक ? सीख गया वह।···और है भी बड़ा गरीब। जाने कितने बच्चे-कच्चे हैं—यों ही पटपटा जाएँगे।"

"मगर मिट्ठू सुनेगा तो उसकी जान लेकर तो·····"

"ना-ना मालिक ! दोनों ठहरे गँजेड़ी—चिलम की यारी है न ! वह तो सुन कर भी अनसुनी कर देगा।"

❀ ❀ ❀

देहात की औरतें जब चक्की पीसती हैं, तो अक्सर जाने क्या गाती हैं। उसे गाना कहना तो शायद काग को कोयल का रुतबा देना है ! वह गाना है तो फिर क्या नहीं गाना है ! फिर तो वह चक्की का घर्र-घर्र भी क्यों नहीं गाना है ?

और राम कहिये, गाने बैठी थी धनिया। वह चीख रही थी कि रो रही थी, पता नहीं। गले की फितरत ही कुछ ऐसी थी। ऐसा लगा कि गले का वह रयाज़ कुछ और जोर पकड़ा, तो उसकी आवाज़ तो खैर, बैठ ही जायगी, मुझे भी किवाड़ बन्द कर घर में बैठना पड़ेगा।

दोपहर का वक्त होगा। आसमान पर बादल छा रहे हैं। लू की लौ की जगह हवा में ठंढक की फूँक है। जी चाहता, सायबान में लेट एक मीठी झपकी लेता। ऐसी फ़िज़ा में कमरे में बन्द रहना एक शामत है।

बाहर बरामदे में कुर्सी निकाल पढ़ने तो बैठा, मगर चक्की के घर्र-घर्र से मिली हुई उसके गले की फटी-सी खुरखुरी आवाज़ कुछ ऐसी थी कि किताब पर मन ठहराने की कोशिश रह-रहकर डावाँडोल होने लगी।

नौकर को पुकारा। कहीं कोई नहीं। ऊब कर उठा। आवाज़ के छोर पर मुड़ा।

दो-चार क़दम आगे बढ़ा होगा कि देखा—सूरदास मौलश्रिरी की एक डाल पर सर रखे चुप खड़ा है। कोई दस हाथ फासले पर, माली की झोपड़ी की सहन में, धनिया बैठी जाँता पीस रही है—गा भी रही है।

सूरदास को बेवक्त यहाँ इस तरह से कान रोपे खड़ा देख मेरे अचरज की सीमा न रही। यह तो उसके मन्दिर की ड्यूटी का वक्त है। मालती के झोंप के तले बैठ माला फेरने वाला प्रोग्राम तो कभी का खत्म हो चुका। आज यह ग़ैरमामूल यहाँ ठमका क्या है?

मैं उसके निकट तक आ गया, पर उसे कोई खबर नहीं। उसके कान तो ऐसे शोख हैं कि दूर की आवाज़ भी बचकर निकल नहीं पाती। मेरे पैरों की आहट तो किसी तुमुल कोलाहल में भी ताड़ लेता। पर आज? जाने कहाँ हैं उसके कान—उसके प्राण!

वह इस तरह तन्मय है, जैसे किसी सुरीली वंशी की तान सुन रहा है। क्यों? चूँकि है यह एक तरुणी का कंठ-स्वर! स्पर्श की सिहरन से तो बिचारा इतने दिनों तक भिड़ता रहा। आज यह गले का जादू भी चला। यह स्वर की सेना! यह सुर का शर!

इस स्वर के सुरूर से चिर-वंचित उसके प्राण आज जी खोल पी रहे हैं रस के घूँट। इस ध्वनि के मायाजाल ने आच्छन्न कर रखा है उसके मन को। राम की कथा की माधुरी जिस मरु की एकमात्र सोती थी, वहाँ खेल रही है आज यह कैसी मन्दाकिनी, जिसके तट पर उसके प्यासे प्राण अँजुलियों से भर-भर पीते हैं—और पीते हैं, पर प्यास लहकती ही जाती है!

आखिर उसके भीतर वह क्या है जो तड़प उठी है उस स्वर को सुनकर—पीड़ा या आकांक्षा—या कौन कहे, प्रेम की पिनक!

वह राम का मारा आँख नहीं रखता, कान रखता है। उसकी आत्मा आँखों की खिड़की से नहीं झाँकती, कानों की राह प्यास बुझाती है। रूप की माधुरी तो उसे नसीब नहीं, उसकी जिन्दगी की न्यामत है यह स्वर-माधुरी।

मगर हाँ, इस स्वर में कहीं माधुरी की झाक हो भी तो! यह किसी कोकिल-कंठ की कल्लोल-काकली हो भी तो!

जी! हमारे लिए वह नहीं है, तो इसका यह कब मतलब है कि किसी और के लिए भी न होगी? जिसे शीराजी नहीं मिलती, उसे आसमानी की लबनी कुछ कम लुत्फ नहीं देती। उसे तो नशा चाहिए—नशा; प्याला हो या चुक्कड़!

दुनिया तो समझती है कि लैला तो ऐसी काली-कलूटी है—मजनू उसमें क्या देख पाता है कि जान निछावर कर रहा

है उस पर ! मगर काश हम लैला को मजनू की आँखों से देख पाते !

हम न समझ रहे हैं कि ऐसी भद्दी बेसुरी आवाज़ पर कभी कोई कान देगा ? मगर काश हम सूरदास के कानों उसे सुन पाते !

तो क्या आज ही उसे टोह मिली है इस स्वर की विभूति की ? उस गले से तो वह अपरिचित नहीं था ! तो फिर ?

वह अपरिचित चाहे न हो, पर उस स्वर की तह में रस की सोती है, जो कानों की राह, फुही-फुही उसके मर्मस्थल तक उतर सकती है—यह पता तो उसने आज ही पाया है। राम की भक्ति की चिलम कभी ठंढी तो होती ही नहीं थी। उसी नशे के भीतर दब गई थी यौवन की वह विप्लवी भूख, जिसे आज जाने कैसे एक तरुणी के गले की भंगिमा ने इस आसानी से कुरेद कर धर दिया।

यह बात न होती, तो कोई वजह न थी कि वह इस ध्वनि की पोर-पोर में यों डूब जाता।

हठात् किसी ने झाड़ी के उस पार से पुकारा—"सूरदास-- ओ सूरदास !"

सूरदास ज़रा चिहुँका।

"क्यों भाई, सूरदास कहाँ है ? आज वह मन्दिर पर आया नहीं। प्रसाद न पायगा क्या ?"

बाप रे ! आज भगवान की ड्यूटी फेल कर गई—न भजन सुनाया, न दर्शन किया, न प्रसाद पाया !

मैं तो समझता हूँ, कुछ ऐसी ही प्रतिक्रिया उसके अन्तर में दुँद बाँध उठी और कहाँ बिगड़ने को अपनी भूल पर, वह उखड़ पड़ा धनिया के इस गाने पर। न वह गला फाड़ गाती; न वह इस चकोह में डूबता।

हाथ की लाठी को ज़रा जोर से जमीन पर ठोक ऊँची टीप में बोला—"हाँ भाई मिट्ठू ! यह क्या गला फाड़ रेंक रही है वह ? सरकार सुनेंगे तो·····"

"क्यों, कोई चक्की भी न पीसे ? मुँह सी कर रखे क्या ?"

"अच्छा, तो मालिक को देना जवाब !"

"जा जा, जड़ आ ! जो पाँच-सात में रहे. वह डरे।"

"नहीं मिट्ठू ! बड़ी ढीठ है तुम्हारी यह बिटिया। भला, कोई इस तरह शोर करता है ?"

"तो तेरा क्या ? तू जो खँजरी पर चीखता रहा, सो क्या है ? चला है रोब गाँठने ! ऐसी-तैसी तेरी—"

यह लो ! अब तक तो यही तेवर थी कि वह पास न आए—उसे कहीं छू न दे ! आज यह भी चली कि गला भी न खोले। उसके गले की आवाज़ भी साधु महाराज की भक्ति की आराधना में टाँग अड़ा रही है। नारी-स्पर्श से विरोध तो हम समझ पाते रहे, उसके स्वर से शत्रुता तो हद की भी हद हो गई।

तो क्या इतने दिनों की राम की वन्दना कहीं की न रही ? मन की किलेबन्दी एक तरुणी के गले की फूँक से यों लगती है तिलमिलाने ? तो जिस दिल पर इतना नाज़ था, आखिर वह आस्तीन का साँप निकला ?

बेचारा आँख का अंधा न होता तो शायद इस तरह स्वर और स्पर्श के मायाजाल में न घिरता।

मैंने कहा—"सूरदास ! जरा इधर तो सुनो।"

वह लाठी टेकता सामने आ गया।

"भला, कहो तो सूरदास ! यह बैठे-बिठाये क्यों उलझ पड़े तुम ? आखिर क्या रखा था उसके गाने में ?"

"हम तो समझे मालिक, आप सो न पाएँगे। जरा-सी-खुट होती है, तो आपकी आँख खुल जाती है।"

"खूब भई, खूब ! हो तुम एक ही नमकहलाल। मगर मालिक के आराम का ख्याल इतनी देर कहाँ था ? वह तो गला फाड़ रही थी जाने कब से !"

सूरदास झेंप गया। बोला—"क्या बताऊँ मालिक ! वह चक्की पर गाने जो लगी, तो हम जाने कहाँ खो गये। ऐसे डूबे कि भगवान की आरती तक छूट गई। जभी तो जैसे होश हुआ, हम यों उखड़ पड़े !....."

अजी वाह, कुरबान जाऊँ इस गले की धुन पर ! क्या डूबना है इस सुर के सुरूर में—और फिर भी सूरदास ऐसे एक सन्त का !

मैं मन-ही-मन उछल पड़ा। वाह यार! यह बैठे-बिठाये दिल भी दे बैठे?—"बाकी है दिल में शेख के हसरत गुनाह की!" तो आखिर चोर पकड़ा गया ऐन सेंध पर? वह 'हाँ' नहीं करता है तो निकल कर जाता है अब कहाँ? इतने दिनों की जासूसी आज फल चली। बस, अब दो-चार सवाल पर तो तमाम पोल खुल ही जायगी।

"तो आखिर उस गले में क्या जादू है कि·····"

"मालिक, कहाँ का जादू और कहाँ का टोना! गले में न लोच है, न मिठास। वह क्या जाने गाना? मैं तो उस गाने पर गया।···यही गाना मेरी माँ भी चक्की पर गाती रही। आज जाने कितने बरसों पर जो सुना, तो याद आ गये बचपन के वे दिन··· ··वह नये गेहूँ की दलिया!"

और उसकी आँखों में आँसू उतर आये!

सूरदास ने फिर रुकते हुए कहा—"आज वह गाने लगी तो रह-रह कर कलेजा उलटने लगा।"

"क्यों, कलेजा क्यों उलटने लगा?"

"यही बात टीसती रही कि हम आज कहीं के न रहे!"

तो क्या सूरदास की वेदना कुछ और है? मैंने उसे समझने में भूल की। धनिया उसके हृदय तक नहीं उतरी है—उड़ती है उसके इर्द-गिर्द। वह उसके जीवन में नहीं आई है। बस, उसके जीवन की विफलता की अनुभूति को तीव्र कर

पाई है। वह न होती, तो सूरदास को घर की सुध न होती, घरनी की भूख न होती। मगर वह घर और घरनी की भूख धनिया को केन्द्रित कर उठी है कि····

मैंने दम-भर रुक कर कहा—"सूरदास! सच कहो, तुम्हें कोई दुःख है?"

"दुःख? हम तो जनम के दुखिया ठहरे मालिक!"

यह अच्छे आये! सवाल कुछ, जवाब कुछ! हो-न-हो, वह फिर कतरा कर निकला चाहता है, पर उसकी आँखों में उँगलियाँ डाल उसे उसका अभाव दिखा देना जरूरी है।

मैंने जरा गंभीर स्वर से कहा—"सुनो सूरदास, तुम्हें पता चाहे न हो, पर तुम्हारा स्नेह का भूखा हृदय ढूँढ़ रहा है एक सुख-दुख का संगी!—समझे?"

"हमारे जीवन के सच्चे संगी तो ये ही हैं न मालिक!"—उसने अपनी माला और चादर पर उँगली रखी—"गुरु महाराज तो कह गये कि एक राम-भजन का आसरा रखना। बस, यही अकेला अपना है, बाकी सब पराया···"

'यह तो गुरु महाराज न कह गये! तुम्हारा दिल क्या कहता है?"

"मेरे लिये तो राम की मर्जी···"

"राम की मर्जी राम जाने! मैं पूछता हूँ, तुमने कभी दिल टटोल कर देखा भी है कि उसकी मर्जी—उसकी अर्जी—क्या

है ? तुम नाहक किसी और का आसरा रखते हो। अपने हृदय से बढ़कर दूसरा कोई सहृदय नहीं। बल देता है तो वही देता है; कल देता है तो वही देता है। और तुमने जाने किस गुरु महाराज की बातों में पड़ ऐसे हमदर्द दिल पर पत्थर रख दिया है।"

"हमदर्द तो, मालिक, इस संसार में एक भगवान ही है। अगर हमने उसके साथ छल नहीं किया तो · "

"मैंने यह कब कहा कि वह नहीं है ? मगर वह तो परलोक के लिए है। मैं इस लोक की बात पूछता हूँ।"

"तो अंधे के लिए यह लोक सूना ही समझें सरकार ! अंधेरा-ही-अंधेरा तो दीखता है मुझे।"

"सो क्यों ? न सही आँखें, न सही रूप का आनन्द। गन्ध और रस के स्वाद में आँख की क्या जरूरत ?"

"हमारे लिये रस की तलाश ? वैसा रस, जो मीठा विष है ! मन में ऐसी मुरादें पालना तो अपनी आबरू आप लेना है और राम से भी हाथ धोना है।"

"सुनो सूरदास, हमारी जिन्दगी के दो पहलू हैं—श्रेय और प्रेय, या यों कहो, विराग और राग। इसी को अपनी बोली में कह सकते हो, राम और काम। तुम्हारे गुरु महाराज ने जाने क्या समझ कर तुम्हें राम की पटरी तो धरा दी, पर काम की कुंजगली की ओर दीवार खड़ी कर दी—उधर

झाँकने तक न दिया। तुम्हें कठोर साधना के पथ की तो काफी तालीम दी पर जिधर दिल की दुनिया है-माया और ममता—उधर तुम्हारा रुख न हो, इसलिये उसे बदनाम ही नहीं, हराम कर धर दिया। गुरु महाराज ने तो कुछ अच्छा ही सोच रखा होगा और वह है भी निस्सन्देह इस जीवन का चरम लक्ष्य, मगर दुनिया में आकर शरीर की माँग बिलकुल रद्द कर देना हमारे-तुम्हारे लिए कोई बायें हाथ का खेल नहीं।"

"हाँ सरकार, यह कोई खेल तो नहीं, मगर आखिर इस जीवन की माँग भी तो कोई और नहीं! गुरु महाराज तो बराबर कह गये—"सूरदास; तुम एक-एक इन्द्रिय को अपना मुँह-मीठा दुश्मन समझना। उनकी चल गई, तो तुम बैठे-बिठाये लुट गये! खैरियत है कि इन शत्रुओं की सेना का जो सेनापति है उसे भगवान ही ने तुम्हारे लिए ऐसा निस्तेज कर दिया कि वह किसी फसाद के काबिल न रहा।"

"वह कौन ?" मैंने टोक कर पूछा।

"यही आँख, सरकार! और कौन? अब इस बेमाथ की फौज को भी अगर हम राम की कृपा से जीत न पाये, तो फिर इतने दिन राम भजा या भाँड़ झोंका—दोनों बराबर।"

"अच्छा, सूरदास! मैं तुम्हें एक कथा कहता हूँ। सुनो—एक थे राजा। बड़े नामीगरामी। उनके कोई बेटा न था। बड़ी मिन्नतों पर उन्होंने बेटे का मुँह देखा। पंडितों ने कहा—'यह

बेटा तो राजा नहीं, महात्मा होगा—ऐसा कि करोड़ों में एक। वह भोग नहीं, त्याग का संचय करेगा।' राजा ने कहा—'ऐसा? अच्छा, तो हम उसे कभी ऐसी तरफ जाने ही न देंगे कि उसके मन में कुछ ऐसी प्रतिक्रिया पैदा हो।' और राजकुमार लगा विलास के वायुमण्डल में जवान होने। एक दिन अचानक उसने एक बूढ़े को देखा तो घबड़ाकर पूछ बैठा कि 'यह क्या? इस शरीर की यह दशा कैसी?' उसके साथी ने कहा—'सरकार, इस शरीर के साथ जवानी ही नहीं, बुढ़ापा भी है।' दूसरे दिन उसने एक रोगी को देखा और फिर विचलित होकर पूछा—'शरीर की यह कैसी विडम्बना है?' साथी ने कहा—'सरकार, शरीर और रोग तो दामन और चोली हैं।' और, बस, राजकुमार की आँखें खुल गईं। उसने पाया कि यह दुनिया दुःख और दर्द से भरी है। और, इसी की तह ढूँढ़ने में वह लग गया।

"तो समझे, सूरदास? राजा ने तो यह सोच रखा था कि उसे विलास की रेशमी सींकचों में ऐसा बन्द कर देंगे कि दुनिया के दर्द की हवा भी न छू सकेगी उसे। मगर उसका अंजाम ठीक उलटा हुआ। कुछ वैसी ही भूल, मैं समझता हूँ, तुम्हारे गुरु महाराज ने की है—चूँकि इस जीवन से विराग चाहे उठ जाय तो उठ जाय, मगर राग का नेस्तनाबूद होना तो बस·····"

"सरकार ! अगर राम की कृपा हो, तो यह कौन-सी बड़ी बात है ?

"चरण-कमल बन्दौं हरि राई।
जाकी कृपा पंगु गिरि लंघे, अंधे को सब कछु दरसाई।"

और, वह सर झुकाए, लाठी टेकता हुआ चल पड़ा मन्दिर की ओर।

मैं उसे एकटक देखता रहा। देखा—कदम फूँक-फूँक रखता है तो क्या, कदम-कदम पर जवानी का कदम है। वही उमंग। वही दमखम। मगर हाय रे अभाग! यह जवानी और यह विरक्ति! यह सिन और यह धुन!

और जाने कैसे मेरी जबान पर अनायास उठ गई बरसों की भूली हुई गजल की एक लड़ी—

'पी भी ले ज़ाहिद, जवानी में शराब
उम्र भर तरसेगा इस दिन के लिए।'

मैं ज्यों अन्दर मुड़ा कि माली आ टपका। उसने शायद समझा कि सूरदास उसके खिलाफ जड़ गया होगा। वह अपनी सफाई देने आया!

"क्या है मिट्ठू ?"

"सरकार, वह अंधा तो बे-बात की बात पर गरम हो उठता है! आज यों ही धनिया पर उखड़ पड़ा!"

"जाने दो, मुझे तो ऐसा लगता है कि वह अपने से लड़ रहा है, उससे नहीं !"

"अपने से ?"—वह जरा अकचका कर हट गया।

"हाँ जी, अपने से !"

यह मैं कैसे समझता कि ऐसी खींचतान के भीतर दिल से दिल का टकराना कुछ अचरज नहीं ! फिर जरा रुककर कहा—"अच्छा, यह तो कहो, इन दोनों अंधे और अंधी को एक डोरी में बाँध क्यों न दिया जाय ? वह रात-दिन का टंटा···"

"सो कैसे मालिक ?"

"क्यों, उसका आँचल और उसकी चादर एक ही गिरह में—"

"भला मालिक, वह ग्वाला, हम माली, ऐसा भी—"

"अरे, अंधे की भी कोई जाति है मिटठू ?"

"मगर उसकी मँगनी तो पक्की हो गई है सरकार !"

"वह कब ?"

"करता क्या ? सयानी ठहरी, कब तक ढोये फिरता ? वह तो भगवान भला करे भजुआ का, जिसने इतनी दौड़-धूप कर बात पक्की करा दी, नहीं तो बेनीराम कभी रंग पर चढ़ता ?"

मेरा माथा ठनका—भजुआ ने दौड़-धूप की ! ऐसी निष्काम सेवा ! बुलाकी की लात में यह करामात ! बोला--

"यह बेनीराम कौन है जी ?"

"सरकार, वह राजा है, राजा ! है तो ज़रा बूढ़ा—बेटे-बेटी से भरा घर भी है; मगर है एक ही खुशहाल। धनिया हाथ पर हाथ रखे दो जून रोटी-दाल तो पाएगी। उस अंधी के लिए यही नियामत क्या कम है ?"

"ठीक है। कब ब्याह होगा ?"

"वह तो चाहता है कि चटपट हो जाय। मगर लगन मिले तब तो !"

अच्छा ! तो यह भजुआ बड़ी दूर की कौड़ी लाया है ! यह शतरंजी चाल ! उसके हाथ न आई तो चाहता है कि एक खूसट के गले में बाँध दे बिचारी को !

"अरे भाई, उस भजुआ पर मत रहो; खुद भी जाकर तो देख लो।"

"देखना क्या है मालिक ? बेनीराम कुछ ऐसा-वैसा नहीं, राजा है।"

'वाह रे राजा, और वाह री रानी !'—मैं हँसकर चुप हो रहा।

जब शाम के वक्त बुलाकी से भेंट हुई तो मैंने फिर छेड़ा—

"कुछ सुना है बुलाकी ? धनिया का तो ब्याह होने जा रहा है।"

"हाँ सरकार ! मिट्ठू के पेट में पानी तो पचता ही नहीं,

बात पचेगी ? कल आप-ही-आप उगल पड़ा···हम तो बराबर समझते रहे कि इस छोकरी के सितारे बुलन्द हैं ! भरे घर में पड़ेगी। उसने बुलाकी की चिलम भरी है तो उससे क्या, वह किसी और की चिलम थोड़े ही भरने वाली है ! जहाँ जायगी, वहीं दस में एक होकर रहेगी। हम आज ही कहे दे रहे हैं मालिक, वह बेनीराम के कान धर कर उठाएगी, कान धर कर बिठाएगी।"

"हाँ, एक बूढ़े को उठाने-बिठाने का वह सहारा तो होती, मगर बिचारी खुद अंधी है। तुम्हें पता भी है, बेनीराम साठ के उस पार है !"

"हुआ करे ! पैसावाला तो है ! वैसे तो सट्ठा तो पट्ठा; आखिर पुरानी काठी है, कुछ आज की थोड़े ही है जो पचास आते-आते लच जाय। मिट्ठू तो कहता रहा कि वह रानी बन कर रहेगी, हाँ !"

"हमारा तो ख्याल था कि सूरदास और धनिया का जोड़ा अच्छा बनता !"

"भला सरकार की भी क्या बातें हैं ! ऐसे गिर गये हम ? सब गया तो गया, अपनी जाति और कुल तो है ! हमारे खानदान का लड़का साधु हो गया तो खैर कोई हँसी नहीं; अब वह कुल बोर देगा तो कहीं का वह रह पायगा ?"

"खैर जाने दो। सूरदास तो ब्याह करता भी नहीं।"

बात तो यहीं पर खत्म हो गई। पर मुझे रह-रह कर उठता रहा कि धनिया बेचारी बेमौत मरने जा रही है। और वाह रे मिट्ठू! हो तुम भी एक ही घाघ! अच्छा गाँठ लिया बुलाकी को अपनी ओर।

हमने चाहा कि धनिया को उसके सर पर मँड़राते हुए बादलों की खबर कर दें। मगर यह सोच कि मेरी यह अनधिकार चर्चा होगी, कुछ तय न कर पाया।

मुझे दो हफ्ते के लिये बाहर जाना पड़ा। कोठी की देख-रेख बुलाकी के सर रही। माली भी छुट्टी लेकर घर जाने लगा। पंखे की ड्यूटी भी न थी। धनिया को वह साथ लेता गया। वह कोठी छोड़ गाँव को जाने को तैयार न थी। पर कह नहीं सकता, उसे व्याह का पता था या नहीं। मिट्ठू ने जाने क्या पट्टी पढ़ाई। उसे जैसे-तैसे बातों में फाँस साथ ले गया।

मेरे वापस आने में कुछ देर हो गई। लौटने पर सुना कि धनिया का व्याह हो गया। मिट्ठू लौट कर आ चुका है। वह रोती-कलपती ससुराल गई। यहीं शहर के पड़ोस में ही कहीं वह दुलहिन बन कर आई है।

ब्याह के वक्त मँगरू भी गया था नवेद में। पूरी-मिठाई की चाट पर गया तो सही, पर एक पत्तल भात भी नसीब न हुआ। बकता रहा कि मिट्ठू ने बछिया बध कर दी। धनिया तो उसके सर पर कुछ भार भी न थी—अकेला चोला—पंखा न भी खींचती, तो कूट-पीस कर पेट पाल लेती! अंधी तो है पर दुनिया की फुर्ती है उसमें। भला, इस तरह कोई कुएँ में भाठता है बेटी को! आँख न सही, जान तो है उसमें!

"क्यों मँगरू, दुल्हे में कुछ ऐब है क्या?"

"वह भी कोई ब्याह है मालिक? न बर न बारात। दो-चार जाने कहाँ से पियक्कड़ आये, रात-भर चुकड़ और चिलम चली—पिछली पहर माँग पर सिन्दूर रखा और बस, डोली पर बिठा चलते बने। मिट्ठू को कुछ रकम भी हाथ आई हो तो कोई अचरज नहीं। हम से तो मालिक, न रहा गया तो टोक ही बैठे—जा सार! इतना भी नहीं हुआ तुझसे कि एक जोड़ी चुनरी भी तो साथ कर दे!"

"यह तो कहो, दूल्हे को देखा तुमने?"

"अरे मालिक, वह तो एक ही पियक्कड़ है! कमर झुक गई है। जब चलता रहा, तो जैसे अब गिरा, तब गिरा। मुँह में एक दाँत नहीं, माथे पर एक बाल नहीं—गंजा है गंजा। कोई घड़ी का मेहमान। मगर वाह रे शौक! एक जोरू चाहिए,

वह भी जवान—बला से बहरी हो या अंधी। उसके बेटे की बहू होती तो एक बात भी थी!"

"मगर खाने-पीने से तो खुशहाल है।"

"आज न है सरकार! कल उसकी आँख मुँदी और धनिया का सर ओखली में पड़ा।"

बुलाकी ने सुना तो लगा मिट्ठू को खरी-खोटी कहने।

"सरकार! हम एँड़ी से चोटी तक चीन्हते हैं उसे। उसकी छाती में न दिल है, न आँख में पानी। कीचड़ में मुँह डाल दाँतों से पैसा उठा लेगा। सुखिया बिचारी रोती-कलपती उठ गई, कभी एक टका भी जो दिया हो उसने। एकाध बार टेंट खोलना भी पड़ा तो काँख-कूँख कर रह गया। वही मसल—सूम की माया और बबूल की छाया किसी के काम नहीं आती। बेनीराम ने उसकी मुट्ठी गरम की होगी। धनिया की रोटियाँ उसे भारी होतीं, तो जो जी चाहे, करता''और हमसे कह गया कि रानी बनकर रहेगी—रानी। हम ऐसा जानते तो ब्याह में ही टाँग न अड़ा देते।"

मेरा मन भारी हो गया। जी में उठा कि हाय! बिचारी की आँख तो गई थी ही, जान भी जाने पर आई!

सूरदास को कोठी पर नहीं पाया। दरियाफ्त से पता चला कि वह तो दिन-रात मन्दिर में पड़ा रहता है। साँझ-सबेरे

एकाध घंटे मालती-तले आ बैठता है। फिर वही मन्दिर, वही हरि-भजन।

शाम हो आयी। हवा में हल्की खुनकी थी। मैं कंधे पर चादर रख टहलने निकला। पार्क में दो-चार चक्कर देकर लौटा तो देखा, अंधेरा छा चुका है। फाटक के भीतर कदम रखा ही होगा कि किसी की दर्द-भरी आवाज हवा को चीरती हुई आई। हैं! यह तो सूरदास का गला है—वही लोच, वही मीड़। तो वह आ गया अपने अड्डे पर। मगर आज क्या है कि उसके गले की फ़ितरत में भजन की धुन नहीं--कुछ और ही रंग है। मैं कान देकर सुनने लगा--

"हे खग, हे मृग, हे भ्रमर बृन्द! तुमने वह गजगमनी देखी?
कोकिला कूक कर बतला दे, तुमने वह पिकबैनी देखी?
हे वन, औ हे वन के वृक्षो! बोलो, बन देवी किधर गईं?
हे कुटो, कुटी! तुम भी बोलो, वह इधर गईं या उधर गईं?"

मगर भाई मेरे, वह इधर या उधर कहीं भी गई हो, वह आकर रहेगी। उसे बरबस आना पड़ेगा। सात समुन्दर के उस पार भी हो तो खिच कर आ जायगी। पर तुम्हारे दिल की पुकार में वह जोर तो हो!

मगर यह किस दिलरुबा की तलाश में दिल की मचलें हैं? वह कौन है, जो उसके जीवन में दो घड़ी आकर जाने किधर चली गई और रख गई उसके लिये एक निर्जन उदासीन

प्राङ्गण, दिन और रात पंखे की खटन और एक अनन्त निरानन्द जीवन ?

तो आज सूरदास के मन का रुख कुछ बदला है क्या ? वह तो जब गाता रहा, वही पुरानी घिस-घिस—सूर या तुलसी। आज यह कहाँ के छींटे हैं उसके जी पर !

मैंने बुलाकी को पुकार कर कहा कि सूरदास को इधर तो भेज दो।

सूरदास लाठी टेकता आ पहुँचा। उसका चेहरा तो साफ़-साफ़ दिखा भी नहीं, उस पर धुँधली-सी छाँह में जाने क्यों ऐसा लगा कि सूरत तो वह परिचित सूरत नहीं। ढाँचा तो जरूर है, पर चेहरे की वह सहज रोशनी अपनी लौ समेट कर उतर गई है। मैंने एक हिचक से पूछा—

"क्यों भाई सूरदास, अच्छे तो हो ?"

"हाँ मालिक, राम का आसरा।"

"अभी गा क्या रहे थे तुम—कोई नई चीज़ है क्या ?"

"जी मालिक ! उस पलटू से कल रात एक लड़ी सुनी थी, वही गुनगुना रहा था।"

"पलटू ? कौन है पलटू ?"

"पुजारी जी का भतीजा।"

"क्या करता है वह ?"

"कथा बाँचता है। जाने किस टोल में पढ़ता भी है वह।"

"तुम्हें पता है, तुम्हारे भजन का रुख आज किधर है? यह तो चुहचुहाती ग़ज़लखानी की बुकनी है।"

"कुछ भी हो; राम की चर्चा तो है!"

"राम की? राम कहो, साधु बाबा, राम-राम! हमीं से उड़ने लगे?"

"हरे राम! मालिक, आप कहते क्या हैं? यह राधेश्याम रामायण का पद है। कल मन्दिर पर यही कथा थी—जब लीलाधर अपनी लीला में वन-वन ढूँढ़ते फिरे—सीताहरण के बाद—"

और मैं झेंप-सा गया कि मैंने कुछ-का-कुछ सोच रखा था। अजब है यह मन की फ़ितरत! कल्पना ने जरा-सी ऐंड़ लगा दी और वह हवा पर जाने कहाँ से कहाँ उड़ गई! न वैसी वह सिर-पैर की उड़ान लेती, न यों मुँह की खाती। मैंने जरा रुक कर पूछा—

"हाँ, तो सूरदास! अब तो तुम और मँगरू दो ही जने रह गये न? आखिर धनिया की जगह किसी को तो रखना होगा।"

"मगर सरकार, वह तो एकाध दिन में लौट रही है!"

"सो कैसे?"

"मिट्ठू कहता रहा कि वह आने के लिए रो-धो रही है—जाने कब टपक पड़े!"

"हाँ, मगर उसका कौन ठिकाना ? अब पराए घर बँध जो गई !"

दो-चार दिन और गुजरे। सूरदार और मँगरू खट रहे हैं बिचारे। माली भी एकाध घंटे हाथ बटा ही देता।

एक रात मिट्ठू ने भजुआ को डोरी थमा दी। सूरदास ने मुँह बनाया--उसे क्यों दिया गया ? उसकी जिद कि डोरी बदली जाय। कसाले का काम आ पड़ा, तो वह रातभर खट लेगा; मगर उस फूहड़ के हाथ डोरी देने की जरूरत नहीं। फिर वह किसी के हाथ में लेने के लायक न रह जायगी। मैंने देखा कि अब किफायतशारी न चलेगी। एक नये पंखाकुली की तलाश जरूरी है !

❀ ❀ ❀

एतवार का दिन। फुरसत की चैन। सुबह ही हाथ-मुँह धो टहलने निकला। ज्यों फाटक की ओर मुड़ा, देखा—सूरदास उस मालती के झोंप के नीचे चुप बैठा है—अजब उदास, गुमसुम। मैंने छेड़ा--"आज यह तुम कैसा दीख रहे हो, सूरदास ?"

"कैसा मालिक ?"

"जब कि अब रोया, तब रोया ! और कैसा सुहावना है आज का दिन !"

"जाने क्या हो गया है सरकार! रह-रह कर लगता है दम घुटने।"

"किसी की याद सता रही है क्या?"

"इसमें इस धरती पर कौन ऐसा है मालिक? जो एकाध रहे भी, वे कब के उठ गये!"

"क्यों, धनिया के चले जाने से सूना नहीं लगता तुम्हें?"

"लगता क्यों नहीं! वह रहती रही, तो एक ऊधम मचा कर रखती। कभी छेड़ती, कभी···"

"मगर तुम तो ठहरे साधु बाबा! तुम्हें तो शान्ति चाहिये न?"

"हाँ मालिक! जब वह यहाँ थी, तो लगता रहा कि कहाँ की आफ़त आई—बैठे-बिठाये जाने कब क्या कर बैठेगी! आज जब चली गई, तो यह छूँछी शान्ति लगती है काटने। शायद आदमी का मन ही कुछ ऐसा दो-रुखा है। किसी हालत में कल नहीं।"

❀ ❀ ❀ ❀ ❀

दिन के चार बज रहे हैं। गर्मी की वही तपिश। मैं आरामकुर्सी पर लेटा अखबार देख रहा हूँ। सूरदास एक कोने में बैठा पंखा खींच रहा है। एकाध बार ऊँघ कर झपकी भी ले लेता है। मैं उसे छेड़ता नहीं। जब उसके हाथों में डोरी ठंढी पड़ने लगती है और वह घुटनों पर ठुड्डी रख लगता है

ऊँघने, तो मुझे तरस आती है कि बिचारा रात में तो खटता ही है, दिन में भी पिस रहा है बेतरह। बुलाकी नाहक उसे उठा लाया इस वक्त। इतनी मिहनत न पड़ती तो ऐसा कुम्हला न जाता। सोता है तो सोने दो। आज शाम तक एक नया पंखाकश लाने का वादा करके चौकीदार सबेरे ही गया। अगर नहीं लेकर आया तो सूरदास की जगह रात की ड्यूटी उसी को देनी पड़ेगी।

इठात् झपकी लेते-लेते चिहुँक कर सूरदास ने कहा—"धनिया तो आ गई मालिक!" वह ऐसा चिहुँका कि पंखे की डोरी उसके हाथ से छूट गई और वह लगा हक्का-बक्का उसे टटोलने। मैंने आँखें उठा कर देखा—उसके चेहरे पर आवेग की एक लहर-सी उठ आई है। कान खड़े हैं, नथने फूल रहे हैं। उसके हाथ तो जमीन पर पसरी हुई डोरी टटोलने में लगे हैं, मगर शरीर की एक-एक शिरा जाने किस आशा, किस आकांक्षा से भरी किसी की आहट ढूँढ़ रही है।

मैंने चौंक कर पूछा—"कहाँ? कोठी में?"

"जी मालिक!"

"कब?"

"वह क्या मिट्ठू की झोपड़ी की ओर जा रही है!"

सूरदास ने इस तरह कहा जैसे वह झोपड़ी की तरफ जाते

देख रहा हो। मुझे एक कुतूहल-सा हुआ। मुड़ कर पीछे दरवाजे से देखा—हाँ, किसमिसी चुनरी में लहालोट वही तो है! जाने किसके कंधे पर हाथ रख कदम बढ़ाए चली आ रही है। यह अजनबी, हो-न-हो, उसके ससुराल का कोई सम्बन्धी होगा।

अजब हैं ये अंधों के कान! बैठे-बिठाये आँखों के भी कान तराश लें!

कौन कहे, कहीं क़ुदरत की दरियादिली किसी की दृष्टि की कमी को उसके कान से पूरी कर लेती हो!

मैं इनके कानों की कला के करिश्मे पर ग़ौर ही कर रहा था कि धनिया आ ही तो गई सरापा। शायद वह सूरदास को तलाशने मुड़ी होगी और उसके हाथ के पंखे की आहट से ताड़ गई कि वह यहाँ है। किसके हाथ में डोरी है—यह भेद तो डोरी खींचने की आवाज से ही खुल जाता है इन अंधों पर।

मैंने देखा कि वह शृङ्गार-पटार उतार एक मामूली-सी साड़ी पहने अपनी पुरानी लिबास में नमूदार हुई और कुछ उसी अदा से बौखलाती हुई आकर उसने सूरदास से कहा—"अच्छा, तू डोरी धर दे, मैं आ गई।"

सूरदास ने डोरी रख दी।

मैंने हाथ का अखबार सरका जब धनिया की ओर देखा तो वह उस खड़खड़ाहट की आवाज से ताड़ गई कि मालिक

सोये नहीं हैं, जगे हैं। वह जरा-सा सर झुका कर बोली—"मालिक! मैं अपने काम पर आ गई।"

मैंने हँसकर कहा—"जैसे कि तू यहाँ रहने ही पाएगी!"

उसने पंखे की डोरी पर एक झटका देकर कहा—"रहूँगी क्यों नहीं? रहने के लिए ही तो आई हूँ। बराबर रहूँगी।"

"मगर है भी यह तेरे वश की बात? अब तो तू अपने मन की रानी नहीं रही!"

"हम तो सरकारी ड्योढ़ी छोड़ कहीं जाती नहीं। कोई भकुआ ले तो जाय हमें!"

यह खूब! अपने मुँह मियाँ मिट्ठू! जैसे कि उसकी दुनिया ज्यों-की-त्यों है—एक तिल भी अपनी बुनियाद से हिली नहीं है। जैसे कि वह दस दिन कहीं फुरेहरी लेने चली गई हो और फिर लौट आई अपनी जगह पर।

अबे अंधो! तुझे पता भी नहीं कि इस दस दिन के भीतर तुम्हारी दुनिया क्या-से-क्या हो गई—कहाँ-से-कहाँ उड़ गई! अब न वह आसमान है, न वह जमीन!

मगर उस चुलबुल की इस अदा को तो देखिए कि वह यहाँ आकर बिलकुल अपनी पुरानी धज पर जम गई। सूरदास के पीछे तो जैसे वह हाथ धोकर पड़ गई। वह लगा कतरा कर चलने। और खड़ा हुआ वही खींचतान का ड्रामा।

मुझे लगा कि वह चाहती है पग-पग पर उसे उसी तरह

छेड़ना, कभी कुछ उलझना, कभी कुछ मचलना। मगर एक हाथ से तो ताली नहीं बजा करती। उसके सर को वह लाल लकीर अतीत और वर्त्तमान के बीच एक खूनी तलवार-सी तनी है—जिसे धनिया चाहे न समझे, सूरदास तो उसे एक पल भी भूल नहीं पाता। वह आज किसी के घर की बहू है! दो दिन के लिए यहाँ आई है तो क्या, दो दिन बाद वह अपनी नयी नीड़ के सुख-दुख में लौट जायगी। यह भावना सूरदास की एक-एक चेष्टा पर अनायास उपट आती है। यही वजह है कि वह पग-पग पर लिहाज और संकोच से पेश आता है। शायद वह इस क़दर अदब से नहीं बरतता, तो संभव है, धनिया भी कुछ ऐसे ताव और तैश में नहीं आती।

वह दिन के पंखे पर तो थी ही, एकाध दिन रात के पंखे पर भी चली आई। सूरदास की आनाकानी एक न सुनी—"कुछ कच्चे खा न जाऊँगी कि ऐसे काँप गये तुम! और, परी भी तो नहीं कि लग जाऊँगी तुम्हें!"

बस, सूरदास ने कमान रख दी।

❀ ❀ ❀ ❀

उस रात अचानक मेरी नींद जो खुल पड़ी तो देखा—पंखा बरायनाम चल रहा है। एक रस्म की तामीली। धनिया पीठ पर से कुरती समेट उकड़ूँ बैठी है। उसके बायें हाथ में डोरी लरज़ती-सी काँपती-झिपती है। और, वह एक साँसी में चीख

रही है—'ना-ना, और ऊपर।' सूरदास कुछ निंदियाया-सा कुछ भौंचक-सा उसकी पीठ सहला नहीं पाता है, रह-रह कर हाथ सिकोड़ लेता है ; पर वह खुजली की शिद्दत से परीशान अपनी दाहिनी मुट्ठी से उसकी कलाई थाम लिए फिरती है पीठ के ऊपरी पटरी पर।

वह कब और कैसे सूरदास पर चील-झपट्टे से टूट, उसकी मुट्ठी थाम, अपनी पीठ के पहलू पर खींच ले गई—यह कांड तो आसमान के सितारों ने देखा होगा—हमने नहीं। यह तो तय है कि सूरदास नींद की खुमारी में न होता तो धनिया यों उसे मुट्ठी में नहीं ले पाती। जभी तो होश आते उसके चेहरे पर झुँझलाहट की रेखा उपट रही है। साथ-साथ कुछ सहमा भी है कि हैं! वह इस बला में कैसे गिरफ्त हो गया! कहीं किसी ने देख लिया तो बैठे-बिठाए शामत आ गई।

पीठ की खुजली तो दीवाल पर रगड़ कर भी शायद मिट जाती, मगर हाँ, उसे पंखे की डोरी छोड़ दो गज दूर दीवाल की शरण लेनी पड़ती। भगवान जाने, यह खुजली पीठ की थी या मन की! कहीं की भी हो, उसे शायद यह पता न था कि रात की अँधेरी है तो क्या, वह मेरी दृष्टि की परिधि से बाहर नहीं। शायद जिसे आँख नहीं होती, वह महसूस नहीं कर पाता कि उस पर किसी की आँख भी जायगी। वह तो किसी को देखता नहीं, तो फिर कोई और उसे क्यों देखने

जायगा ? सम्भव है, वह समझ रही हो कि दुनिया तो बेखबर सो रही है—या किसी की आँखें खुली भी हैं, तो उसे पता क्या है कि अँधेरे में किधर क्या हो रहा है !

झनझन रात ! घुप्प अँधेरा ! कौन कहे, किसकी आँखें इस शर्मनाक मंजर पर हैं ! कहीं तो कुछ दीखता नहीं। छोटे-से सायबान के एक छोर पर मैं—दूसरे छोर पर वे। मेरी ओर अँधेरा। उस ओर दीवालगीर का उँजेला। चमन की क्यारियों से रात-रानी की लपटें। मौलसिरी के पेड़ पर बादुरों की फड़फड़ाहट।

हाँ, आसमान से चन्द सितारे इस दृश्य को देख रहे हैं। वे तो बराबर देखते हैं और बराबर देखते रहेंगे। अनन्त के साथी हैं वे। पर उनको दुनिया की किसी तड़प की परवा क्या है। परवा न सही, पर दुनिया का कोई खेल पर्दा तो नहीं है उनसे।

मैं पूछता हूँ, ओ आसमान के सितारे ! तुमने तो रात-पर-रात सब-कुछ देखा है—सब-कुछ सुना है; मैं तो किसी रात जब उठ पड़ा और उधर रुख किया तो कुछ देख लिया या सुन लिया। मगर तुम तो निर्निमेष निर्लिप्त जाने कब से देख रहे हो—सुन रहे हो। तुम क्या नहीं जानते, क्या नहीं पाते ! सच कहो, धनिया की इस खाम-ख्याली का रहस्य क्या है !

आज इस खुल्लमखुल्ला पागलपन की तह में कोई तो

राज जरूर होगा ! तो क्या वह सूरदास का हाथ थाम पीठ नहीं सहलाती—दिल सहलाती है ? शायद वह चाहती है सूरदास को यह बताना कि धनिया अभी वही है—खामखाह वैसी ही अल्हड़। माँग पर सिंदूर है तो क्या, वह वही मनमानी बिटिया है जो बराबर रही है। वह नहीं मानती दोनों के बीच किसी तरह का भी नया व्यवधान। तो क्या, उसने अपनी समझ को भी बहला रखा है कि वह वैसी ही आजाद है—कहीं एक लट भी दबी नहीं है ? और, अगर दुनिया की निगाह में वह कुछ और ही जँचती है तो बला से—उसे परवा नहीं ?

सूरदास तो पहले भी उससे फटका चलता रहा, मगर वह बच-लुक कर चलना और था। वह शायद अपने आप से जूझ रहा था ! वह कशमकश भीतरी होगी—बाहरी नहीं। मगर आज जो वह इस क़दर लिहाज और अदब रखता है, वह इसलिए कि चूँकि वह समझता है कि धनिया हो गई अब कोई और। उसके सर पर आ गई एक गृहिणी और पत्नी की नई जिम्मेवारियाँ।

हाँ, धनिया चाहती है कि सूरदास की इस धारणा की भुस्सियाँ उड़ा कर धर दे और दिखा दे कि वह बिलकुल बन की पंछी है—जब चाहे जिस डाल पर फुदकती रहे, कहीं कोई पशोपेश नहीं। और यही दिखाने की हवस में छटपट वह

कुछ जरूरत से ज्यादा ढीठ हो रही है। यह हवस न होती तो वह यों दीदें न धो डालती।

हाय री अबोध नारी! दुनिया अंधी नहीं है; अंधी हो तुम। तुम जिस धरती पर शुतुरमुर्ग की तरह अपनी चोंच को गाड़ एक मनमानी अंजुमन के नक्शे आँक रही हो, वह बुनियाद ही तुम्हारे पाँव-तले से सरक चुकी। तुम अपने को ठगना चाहती हो, तो ठगो; दुनिया को ठग लेना आसान नहीं। जो रंग जीवन से उतर गया, वह उतर गया; और जो नया चढ़ आया, वह आ चुका। जीवन की जो परिस्थिति बदल गई, वह मिट गई; और जो आ गई, वह तुम्हारे आँख मूँदने से नहीं छिपती। तुम सूरदास क्या, किसी के साथ भी, आज अपनापन का लाख इज़हार करो, पर वह जो है, वह है; तुम जो हो, वह हो।

मैं समझता हूँ, यहाँ के जीवन में उसका जीवन है और ससुराल के जीवन में मरण—गो यह जीवन स्वप्न है, वह मरण सत्य। जो भी हो, जब इसी सपने की माया पर वह दम में दम रख पाती, तो फिर उसके प्राणों से इस मरीचिका की मोहिनी छूटती तो क्यों कर छूटती?

आखिर कैसे-कैसे हैं इस दिल के चोंचले! वह क्या-क्या नहीं चाहता! ऐसा भी—वैसा भी!

इतने में 'पट' की एक आवाज़ आई। मेरी उधेड़बुन का

ताँता जो टूटा तो देखा—सूरदास ने झटके-से अपना हाथ छुड़ा कोने की लकड़ी थाम ली है। और, कुछ ऐसे तैश से उसने लकड़ी फेरी कि मुझे डर हो आया कि कहीं उसका निशाना धनिया का सर न हो! मगर खैर, यह छटक कर पड़ी किवाड़ के कोर पर। वह बिचारी बाल-बाल बच गई।

और, सूरदास अपनी लकुटिया टेकता सीढ़ियों से उतर गया।

❀ ❀ ❀ ❀ ❀

यों ही दिन-पर-दिन जाने लगे। दिल पर दिल आने लगा—ऐसा कहना तो हिमाकत है, मैं काफी मुँह की खा चुका हूँ। अलबत्ता यह तो बग़ैर किसी हिचक के कह सकता हूँ कि वह झिझक दिन-ब-दिन चूर होती गई।

मगर हाँ, वह झिझक भर गई। उसकी जगह कोई ललक न आई।

सूरदास अपनी धुन का करा है—एक अजब टर्री। माना कि उसका दिल कभी हिल गया हो, पर जब उसे टटोल कर देखा, तब ज्यों-का-त्यों पाया। धनिया बल खाती रह गई—उस अंधे पर कोई बल नहीं आया।

धनिया रात के पंखे पर बेखटक आने लगी। वह धड़ल्ले से आकर पंखे की डोरी थाम लेती और बैठ जाती खींचने! दिन की ड्यूटी बूढ़े मँगरू के जिम्मे गई। वह चाहता भी रहा

कि रात की ड्यूटी से उसकी छुट्टी रहे। इधर कुछ दिनों से, रतजगे से वह दिन-भर सर थामे रहता। रात की रोटी भी पेट में ज्यों-की-त्यों रह जाती। उसने माली को कह-सुन धनिया की रात की ड्यूटी की स्वीकृति ले ली। सूरदास की चीं-चपड़ की कहीं कोई गुंजाइश भी न रही।

यह तै पाया कि दस से एक तक धनिया ड्यूटी देगी। एक से चार तक सूरदास। मगर धनिया ने कहा कि नहीं, पिछले पहर की ड्यूटी उसकी रहेगी। सूरदास ने कहा कि यह कैसे होगा? वही ड्यूटी तो करारी है। तुमसे कभी बन पड़ेगी?

बात लगी बढ़ने। आखिर बुलाकी ने यह फैसला दिया कि आज धनिया तो कल सूरदास—यों चले। किसी की आपत्ति की कोई जगह नहीं।

आधी रात वाली ड्यूटी जब आती, तब धनिया सबेरे-सबेरे बरामदे की एक ओर पड़ जाती और सूरदास वक्त पर अपने हाथ की लकड़ी उसके पड़ोस में गच पर ठोंक उसे उठा देता! हाँ, जब कभी वह इधर कुछ देर से सो पाई और आधी रात जाते उसकी आँख लग जाती, तो सूरदास उसे कच्ची नींद में उठा नहीं पाता—उसे जी-भर सोने देता। धनिया उठती तो भौं तरेरती और आज का कर्ज कल चुका देने की बन्दिश बाँधती। दूसरे दिन जब सूर के साथ सूद जोड़ वह लगती

कौड़ी-कौड़ी चुकाने, तो एक नारी के हाथ से दान के बदले प्रतिदान लेना सूरदास के लिए जान लेने के बराबर खलता। वह पास बैठा दबी आवाज में आरजू-मिन्नत करता, दुहाई देता और सफ़ाई देता! खींच-तान करना तो संभव नहीं था—मालिक की नींद जो खुल जाती! पर धनिया उसकी एक नहीं सुनती। अपनी अवधि पार कर भी उसी रौ पर खींचती चली जाती!

यह तो कहिये कि वे आँख के अंधे थे कि उन्हें किसी और की उपस्थिति की वैसी परवा न थी। कहीं उनकी निगाह के सामने मेरी हस्ती होती, तो बात-बात में यों भटक पाते?

उनकी फुसफुसाहट किसी बुलन्दी पर उठ पाती? और यह रात का सन्नाटा है कि वैसी दुबकी-काँपती बोलियाँ भी लड़खड़ाती हुई मेरे कानों तक पहुँच जातीं।

जब पलँग की ओर से किसी हरकत की आवाज न आती तो वे यह समझते कि मालिक तो बिलकुल बेखबर हैं—उन्हें इस रकझक का कब पता होगा! मगर यहाँ तो मालिक की आँख में नींद और मालिक की आँत में भूख तो एक अनहोनी घटना-सी थी। किसी दिन लग गई तो लग गई, नहीं तो कहाँ की नींद और कहाँ की भूख! एकाध घंटे आँख लगी भी, तो फिर घंटे-भर खुली रही और पलँग की इस पटरी से उस पटरी तक करवटें बदलती रहीं।

अगर आते-आते नींद आ गई, तो फिर क्या कहना ? कहाँ का सूरदास और कहाँ की धनिया ! और न आई, तो कभी कुछ देख लिया, कभी कुछ सुन लिया।

देखा, सूरदास उकड़ूँ बैठ पंखा खींच रहा है। धनिया खंभे की आड़ बैठी फिसफिस बातें कर रही है। पंखे की डोरी पर जंग छिड़ी है। सूरदास के हाथ से डोरी खींच लेने पर नंगी तलवार-सी बनी है बह और सूरदास कतरब्योंत कर पहलू बदल रहा है। और, भन्न-भन्न आती है उस सुनसान रात में दोनों ओर की झड़प।

"सो गई तो ?"

"नहीं सोती मैं।"

"कहता हूँ, सो रह। रात बहुत है।"

"चल, हट ! डोरी इधर दे !"

"अरे भाई, कहा मान। आध घंटे भी तो सो रह···सुनती नहीं···रात झनझन कर रही है···"

"उहुँक ! नींद नहीं आती···अच्छा, सूरदास ! वह कथा तो कहो !"

"कौन-सी ?"

"वही कलवाली—पूरी हुई कहाँ ?"

"अच्छा, तू सोती रह, हम कहे देते हैं—"

"हाँ, तो सूरदास, जब धनुष ऐसा भारी रहा कि बड़े-बड़े

योद्धा एक तिल भी हिला नहीं पाते, तो सीता मैया कैसे···"

"अरे, चुप रह ! मालिक जाग पड़ेंगे।"

"तो तू डोरी इधर देता है या नहीं ?"

"तू समझती नहीं—सीताजी तो साक्षात् शक्ति हैं न ?"

कि धनिया ने नारी की शक्ति का परिचय दे चट उसके हाथ से डोरी खींच ली।

❀ ❀ ❀ ❀

देखा—दूध की धोई टहटही चाँदनी है। विश्व के कोने-कोने में अंजुरी भर-भर कर उँड़ेल दी है चाँद ने सुधा की मोहिनी माया। आसमान का ज़र्रा ज़र्रा—धरती का चप्पा-चप्पा—जाने किस सुहाग से, किस उमंग से जी खोल मुस्कुरा रहा है।

और इस निखरी धुली रोशनी में मिल रही है नीम की फूली-फूली फुनगियों की मीठी-मीठी सुरभि, रात-रानी की लपटों की एक नशीली गन्ध। और रह-रह कर दूर से लहराती हुई आती है किसी मनचले की बाँसुरी की सुरीली तान। यह चाँदनी, यह सुरभि, यह काकली ! वह मस्ती का आलम है कि बस !

धनिया के हाथ में डोरी जाने किस आवेग की तरंग पर बल खाती हुई इठला रही है। खुली चाँदनी में उसका एक-एक

अंग एक अजब बाँकेपन—एक अजब चुलबुलापन से झूम रहा है—जैसे अपने-आप पर उसका कोई वश ही नहीं रह गया हो।

सूरदास दो हाथ अलग हाथ में माला लिए जाने किस धुन में खोया-सा दीखता है—ध्यानमग्न बुद्ध की तरह निर्विकार। उसकी उँगलियाँ रुद्राक्ष के दाने पर फर्र-फर्र फिर रही हैं, पर मुझे लगा जैसे वह अपने भीतर दबाए बैठा है एक रहस्य—एक विचित्र हलचल।

धनिया कह रही है—"सूरदास! आज तो रह-रह कर जाने क्या·· ना-ना, जाने दो····"

"क्यों, रुकी क्यों?"

"जाने क्या हो गया है आज—ना? जी चाहता है, कहाँ उड़ जाती·· इस दुख-भरी दुनिया से दूर—बहुत दूर!"

"तुझे पर जम रहे हैं क्या? पगली कहीं की!"—सूरदास ने मीठी हँसी हँस कर कहा और जरा आवाज उठा लगा गुनगुन करने—सियाराम, सियाराम!

अबे ओ दीवाने! तुझे राम के सुमिरन के लिए यही घड़ी है क्या? ऐसी उमंग-भरी रात तो सौ रात की एक रात है। यह रात तो फिर आने की रात नहीं। इस पल के लिए भी तो अपने राम को रुखसत कर—अपने आचार को, उपचार को, विचार को बरखास्त कर!···· करता है?·····नहीं करता? मत कर! रहा तू··

"आज की रात एक कैसी लहर सी·····"

"हाँ-हाँ ! पूरनमासी है न ? आसमान से अमृत की वर्षा जो होती है आज ! ऐसी ही रात यमुना के तट पर कन्हैया ने वंशी फूँकी थी।"

"हाँ जी ! आज भी तो वह बज रही है। ना ?"

"अबे यह नहीं, वह कन्हैया की बाँसुरी थी—कुवर कन्हैया की ! उसे सुनती तो तुम यों ही रह पाती ? दुनिया की सुधबुध भूल, जाने क्या कर बैठती।"

"सच ? ऐसी मोहिनी थी वह वंशी ?"

"और क्या ? गोपियों ने घर-बार छोड़ा, पति और पूत छोड़े····· पत छोड़ी और उसी धुन के पीछे पागल-सी लुट गईं।"

"सूरदास ! आज की रात भी कोई वैसी ही बाँसुरी फूँक पाता ! हम भी सब-कुछ तोड़-मरोड़ फेंक·····किसी के पैरों पर माथा टेक लोट पाती तो·····"

ऐसी पुलक-भरी, सिहर-भरी चाँदनी में किसी का यों सिर फिरना—उमंग कर लोटपोट होना—तो कोई अचरज नहीं। जब विश्व के रेशे-रेशे पर मधु की दरिया उमड़ आई है, तो फिर पागलपन की एक लहर उस युवती के दिल के पहलू पर उभर ही आई, तो क्या आई ! इन किरणों के जाल में पड़ कब किसी का दिल बगैर डावाँडोल हुए थिर रह पाएगा !

कि हठात् धनिया के हाथ से जाने किस विह्वल आवेश में डोरी छूट गई !

वह लगी झुक कर उसे टटोलने कि उसके माथे का अगला हिस्सा सूरदास के घुटनों पर ठक-से बोल गया और मुझे लगा जैसे वह उसके चरणों पर अब गिरी, तब गिरी। मगर सूरदास उँगलियों में माला लपेट दो हाथ दूर सरक पड़ा और सिहरा-सहमा-सा एक काँपते स्वर में बोला—

"अबे पगली ! सर रखना है तो राम के कदमों पर रख।"

इतने में धनिया ने डोरी थाम ली और एक अजब झुँझलाहट से बल खाती हुई बोली--

"चल, हट ! जैसे कि मैं तुझ जैसे पत्थर पर सर तोड़ने झुकी थी--रह गया तू यों ही--अंधा का अंधा !"

हाय रे सूरदास ! तुम्हें आँख नहीं, तो क्या दिल भी नहीं ?···आखिर किस कठघरे में बन्द है तू ? क्या आचार के व्यूह से निकलने का कोई भी रास्ता तुझे नसीब नहीं ?··· इतनी भी तुझे पहचान होती कि उसका रोआँ-रोआँ क्या चाह रहा है--क्या ढूँढ़ रहा है ! क्या तुम्हारी रीझ-बूझ दुनिया से ऐसी बेलौस--ऐसी निराली है या सब कुछ बूझ कर भी यों अनबूझ बन रहे हो तुम ? तुम्हारी मेरुमज्जा में वैष्णव रीति-नीति की ऐसी संगीन मोर्चेबन्दी है कि किसी दर्दमन्द के दिल की माँग के लिए एक तिल भी जगह नहीं हो पाती ?

आखिर वह एक नारी है, पुरुष नहीं। और फिर उसके सर पर आठो पहर सवार है वह लाल-लाल लहू के रंग में भरी समाज की खूनी तलवार। वह लाख चुलबुली क्यों न हो, पर वह कैसे चीर कर धर दे कि उसके दिल की तमन्ना क्या है! उसे आँख न सही, पर आँख में पानी तो है! सोचो, वह क्या कहे, कैसे कहे! तुम उसके चेहरे पर उमड़े हुए तूफान के आँकड़ों को तो पढ़ने से गये; पर क्या तुम्हारे मर्म के कान उस टूटते कलेजे की धड़कन भी नहीं सुन पाते? सच कहो, क्या तुम्हें एक पल के लिए भी नहीं लगता कि आज इस मधु-यामिनी में वह अपने हृदय का अर्घ्य लिए तुम्हारे मन के बन्द किवाड़ पर अपना सर फोड़ रही है? धन्य हो सूरदास--धन्य! अरे भाई, वह लायी है अपना तमाम सुख-दुख, अपनी तमाम आस और प्यास तुम्हारे चरणों पर उड़ेल कर अपने को रिक्त कर देने, पर ऐसी करी है तुम्हारी तबीयत की चुस्ती कि किसी हीले कानी उँगली से भी उसे छूने को तैयार नहीं!

तुम्हारे राम ने तो जाने कहाँ की एक मल्लाहिन के कब के मुँह के उगले सड़े-घुसे बेर किस चाव से खाए थे! आखिर इस पहलू पर भी कभी कुछ सोचा है तुमने? वह भी कभी के ऐसे थे कि एक भक्त के अर्घ्य को यों ठुकरा दें?

हाय रे कम्बख्त! एक नारी के हृदय का यह निःशेष

आत्म-समर्पण किसी को बड़े तप से नसीब होता है। जीवन का चरम ध्येय—चरम पुण्य है यह। आज तुम इस नायाब न्यामत की कद्र न करो, मगर एक दिन जब आचार के अत्याचार से ऊब कर दिल लगेगा फन काढ़ फुफकार लेने तो···

कि इतने में बारह का गजारा गूँजता हुआ बजा। सूरदास चट हाथ की माला झोली में रखता हुआ बोला—"ले, अब डोरी इधर रख दे। बारह बज गये।"

"क्यों हाथ बढ़ाकर थाम लोगे तो कोई छूत लग जायगी क्या ?"

"तू डोरी रखती है या नहीं !"

"नहीं।"

"तो रातभर खींचती रह। हम चले।"

सूरदास हाथ के डंडे के सहारे उठ पड़ा और ज्यों सीढ़ियों की ओर मुड़ा कि धनिया ने झपाक से हाथ की डोरी उसके मुँह पर फेंक मारी।

और मेरा मन मचल कर पुकार उठा—अरे भाई, सोचो तो सही, कहाँ भाग कर जाओगे तुम हमारी इस इसरत-भरी दुनिया से ? राम के घर ? वह तुम्हें इस निर्मम आचार के तूमार में मिलने को है ? वह तो प्रेम का दीवाना है, नेम का नहीं। उसका पता भी यही दिल उँड़ेलने वाली नारी देगी,

जिसे तुम नाहक यों ठुकरा रहे हो ! काश उसके दिल की लगी से तुम्हारे दिल में भी लौ लग गई, तो उसी लपट से तुम्हारी आँखें खुल पड़ेंगी और तुम्हें राम के दर्शन होंगे। यह पार्थिव प्रेम इन इन्द्रियों से घिरा है तो क्या, इसी सीमा में एक दिन तुम्हें असीम की झाँकी मिल सकती है।

ससुराल से धनिया की तलबी आई। उसने उस परवाने पर कान तक न दिया।

मिट्ठू ने तो हँसकर उड़ा दिया—"ऐसी भी क्या जल्दी है? अभी कल तो वह आई है। दम धरो। जायगी न!"

वह अपने फर्ज से छुट्टी पा चुका था। उसे अब परवा न थी कि वह जाती है या रहती है। रहती है तो अपने पसीने की रोटी खाती है—कुछ उसकी रोटियाँ नहीं तोड़ती। वैसे तो अपने हाथों रोटियाँ सेंकनी पड़ती। आज वह है, तो चरने-चुगने को चैन है।

आखिर एक दिन बेनी खुद आ धमका। मिट्ठू ने कहा—"ठहरो, मालिक के पंखे पर किसी को रख दूँ, तो उसे पहुँचा दूँगा। ऐसे घबरा क्यों गये?"

वह लौट गया।

धनिया ने समझा, बला टली। लगी गुरु गोसइयाँ को गुहराने, मिन्नतें माँगने। मगर बकरी की माँ कब तक खैर मनाती! जब ओखली में सर दे चुकी, तो मूसलों से पनाह? जो बला टली थी, वह तूफान बनकर आई।

बेनी ने रुख बदला। उसकी झड़प की आवाज धनिया के कान में आई, तो वह स्याह हो गई! कभी खीस पीती, कभी दाँत पीसती।

ससुराल से लौट कर जिस हवाई महल को वह अपनी कामना की भित्ति पर ईंट-पर-ईंट रख जोड़ रही थी, वह एक ही फूंक में बालू की भीत बन लगा तिलमिलाने। मगर वह कमान रख देने को तैयार न थी। एक चोट खुद लड़ने को कमर बाँध ली!

बेनी ने उसकी जबान पर आपत्ति की धुन सुनी, तो और भी तन गया। मेरे यहाँ आकर बड़े तपाक से फ़रियाद की कि मिट्ठू ने तरह दे-देकर धनिया को ढीठ कर दिया है।

मैं इस उलझन से अलग रहा। साफ कह दिया कि धनिया कुछ दूधपीती बच्ची नहीं कि किसी के कान भरने में वह आएगी। वह जाती या नहीं जाती, उसकी मर्जी। पंखे के लिए उसकी हाजिरी जरूरी नहीं। इतने दिनों तक नहीं थी,

तो क्या पंखेवाले की कमी थी ? पंखे की ड्यूटी का सवाल तो न जाने का एक हीला है।

बेनी ने मिट्ठू के घर डेरा डाल दिया। दिन-भर जाने कहाँ रहता; चिराग़ जलते मौजूद। मिट्ठू तो उसे दो कौर खाने को भी नहीं पूछता, पर घर में आ जाने पर गर्दन में हाथ देना भी मुनासिब नहीं था। बेनी खाकर तो आता ही, पीकर भी आता। और धनिया उसके मुँह की गंध पर लगती मिचलाने।

मेरे यहाँ आकर लगी रोने—"सरकार, कैसे सुख में हम थीं यहाँ! यह जाने किस विपत में पड़ गईं! हे भगवान्! भज्जुआ का हमने क्या बिगाड़ा था ऐसा···!"

"सुन धनिया, यह रो-धोकर क्या होगा? बेनी तुझे ले जाना चाहता है, तो और कोई कैसे दखल दे!"

"मालिक, यह सूनी देह लेकर वह क्या करेगा? दिल तो वहाँ लगता नहीं।"

मैंने हँस कर कहा—"अरे भाई, देह तो मिले! दिल की तलाश बाद को होगी।"

"वह तो उसे मिलने को नहीं, मालिक?"

"क्यों, दिल देगा तो दिल पायगा। कुछ मुफ्त तो मिलने को नहीं।"

"है भी उसे कोई दिल, सरकार? दिल तो उसका दारू में है।"

उस दिन सुना, बुलाकी से रो-धो कर कह रही है—"काका उसके बेटे की बहू भर-देह गहना झमर-झमर बजाती फिरती है। हमें तो मुट्ठी-भर चना भी फाँकने को नहीं देती। कहती है—'आई है मालकिनी बनने! दम धर, तेरे झोंटों का झाड़ू बना कर तो छोड़ूँगी।' तमाम जूठे बर्तन माँजने को देती है। हमने 'ना' कर दिया तो लगी सिउँठा लाल कर पीठ दागने।"

"ऐसा? ठहर, सरकार से दो दिन की छुट्टी लेने दे। अभी जाने कितने चेले-चाटी हमारे बच रहे हैं। उस ससुरी का एक-एक गहना उतरवा न लूँ तो बुलाकी नाम नहीं। हाँ, बता तो सही, उसके घर का हुलिया। कहाँ रखते हैं सब गहना-पत्तर?"

"तो गहना चुरा कर हमें देना काका!"

"तू क्या करेगी लेकर?"

"वह जब लगेगी छाती पीट-पीट कर रोने, तो उसे यों हवा बताऊँगी। अच्छा, दम धर, हम देवी को सुमिरती हैं, तू सोने की छत्तर की मन्नत माँग।"

और मुझे हँसी आ गई। यही देवी का सुमिरन एक दिन और हुआ था, जब बुलाकी रो-धो झनक-पटक कर हार गया, मगर उसकी गुड़मुड़ी न मिली। उस घड़ी धनिया ने बुलाकी को किस खूबी से चराया था! आज बुलाकी चरा रहा है

उसको। उस दिन वह दुधमुँहा बच्चा बना था, आज यह बनी है। सब समझ कर भी समझ नहीं पाती।

कितना कमजोर है आदमी का दिल! जब दुनिया की लहरों में उबचुब होता है, तो ढूँढ़ता है तिनके का सहारा। उसकी विकलता ऐसी है कि वह ठण्ढे दिल से सोच भी नहीं पाता कि वह तिनका है, कुछ वैसा सहारा नहीं। और बस, चक्कर खाता रह जाता है उसी भूलभूलैया में निरन्तर।

मैंने बुलाकी को पुकार कर कहा—"भला बुलाकी! तुम भी बच्चे हो रहे हो उसके साथ? चले हो उसके घर में सेंध देने?"

मेरी आवाज पा बुलाकी चट मेरी ओर मुड़ आया। उसे पता न था कि मैं मालती की ओट में खड़ा वहाँ मौजूद था। झेंपता-सा सामने आकर बोला—"सरकार! उसे तसल्ली दे रहा था न!"

और उसने दूसरे ही क्षण धनिया की ओर बढ़कर कहा—"अच्छा, धनिया, आज आने दे बेनीराम को। हम वह डाँट बताएँगे कि हाँ! मजाल है कि वह तेरा एक बाल भी बाँका कर सके?"

"मगर काका! यहाँ तो वह 'हाँ' कर ही देगा। घर जाकर आदमी रहे जब तो!"

"अरे, सुन ! बुलाकी अभी मरा नहीं है। बूढ़ा है तो क्या ? ठोक-पीट कर वह सीधा कर देंगे कि देखना !"

धनिया बिचारी तो एक अजब मुश्किल में थी। मैं उसकी पीठ पर हाथ क्या देता ! चुप था। पंखे की डोरी थाम बैठ जाती तो एक तरस भी आती उस पर। दुनिया की धूप-छाँह की आँख-मिचौनी इसी सिन में !

वह बिचारी न समझ पाती, न समझने पर जी उठाती कि उसके माथे पर एक चुटकी सिन्दूर रख कोई उसकी ज़िन्दगी पर हुकूमत का दमामी पट्टा कैसे धा गया ? उसने दिया क्या, जो उसकी एवज में उसके सब-कुछ का दावेदार है ? आखिर क्या दिया ?—दो रत्ती की एक नथिया, कान की दो लौंग, चाँदी की झबिया, एक बिछिया—बस, यही न ? इनका मोल ही कितना ? और वह जो महीने-भर उसके घर में लहू का घूँट पी-पी कर उसके बेटे-पतोहू के जूठे बर्तन माँजती रही। आम के आम, गुठली के दाम। और, अगर उसकी खटन सूद में गई, तो वह ले जाय अपना माल, अपना गहना-पत्तर। उसकी जान बखश दे—बस ! वह बाज़ आई माँग के सिन्दूर से—बाज़ आई हाथ की चूड़ियों से। वह क्या जानती रही कि हाथों की ये शरबती चूड़ियाँ, चूड़ियाँ नहीं, बेड़ियाँ हैं ! मिट्ठू काका ने तो माँड़ो की रात कहा था कि वह माँग पर सिन्दूर रख बिरादरी में उसकी नाक ऊँची कर दे और डोली पर चढ़

दुनिया की देखादेखी ससुराल का आँगन धाँग आवे। फिर उसकी मर्ज़ी, वह बेनीराम की चिलम भरे या पंखे की डोरी धरे। बेनीराम ने तो हाथ काट कर दे दिया है कि वह टाँग अड़ाने को नहीं! हाय रे मिट्ठू भैया! तुम वही हो या, सच कहो, बदल गये? तुम्हारी जीभ के तले कोई दूसरी जीभ भी है क्या?

इधर यह रवैया; उधर बेनीराम सर पर सवार। वह अपना दुखड़ा अलग रोता रहा। उसके दर्द के साथ किसी को हमदर्दी तो थी नहीं, मगर उसकी डिगरी रद्द करने की कूबत भी किसी में न थी। उसे कोई भर मुँह पूछता तक नहीं, पर किसी के न पूछने से उसकी पूँछ तो दबती न थी।

एक सूरदास से बेनीराम को कुछ तसल्ली-सी मिली। देखा, घंटों साथ बैठ जाने क्या फुस-फुस किया करता है। शायद उसे धनिया को कह-सुनकर राह पर लाने की उम्मीद दिलायी।

कह नहीं सकता, रात कितनी होगी। अचानक नींद जो खुली, तो देखा, बादल घिर आये हैं; कुछ बूँदा-बूँदी-सी हो रही है। हवा भी ठण्ढी है।

सूरदास ने पंखे की डोरी रख दी है। मैंने पायताने से चादर खींच सोने की कोशिश की, तो हठात् बरामदे के छोर पर धनिया की लकड़ी की खटखट सुन पड़ी।

मैं चौंक पड़ा। इस वक्त कहाँ चली आ रही है वह! वैसे ही काफी ठण्ढा है। पंखे का तो कोई सवाल नहीं। मेरा माथा ठनका--तो क्या बेनीराम की आँख में धूल झोंक आई है सूरदास से मिलने गुप-चुप? लाज-शरम भी धोकर पी गई क्या?

मगर जब सूरदास ने उसे फटकार बताना शुरू किया तो समझा कि ससुराल न जाने का कोई रास्ता ढूँढ़ने आई होगी।

"तू उसे छोड़ उठ आई इतनी रात को; जा-जा, सो रह। इसी चाल से न वह गरम रहता है तुझ पर ?"

"जैसे कि हम उसके पैर टीप रही थीं !"

"यह सुनो ! अगर टीपती ही रही तो इसमें शर्म की बात क्या है ?"

"हूँह ! देह तक तो छुलातीं नहीं उस पियक्कड़ से !"

"राम राम ! यह अधर्म !"

"रहो भी ! हम ऐसे की आरती नहीं उतारतीं—"

उसकी आवाज़ काफी टनक हो चली थी ! सूरदास ने कहा—

"अच्छा-अच्छा, चुप रह। कहीं मालिक को नींद खुल गई, तो क्या कहेंगे वह ! पंखा खींचना नहीं है तो यहाँ बैठे हैं किस लिये ? हमें भी तू बोर देगी क्या ?"

मगर धनिया कुछ ऐसे तैश में थी कि आज उसे मालिक की नींद खुलने की परवा न थी। संभव है, वह यह समझती हो कि हवा की सनसनाहट और बूँदों की टिप-टिप में वह सुन ही कब पाएँगे ? अगर और दिनों की तरह साँसी में बात होती तो शायद मैं सचमुच सुन नहीं पाता। मगर वह तो

कुछ ऐसी लहर में थी कि मैं तो दूर, भजुआ जो गुसलखाने की चौखट पर सर रख सो रहा था, उसने भी सुन लिया हो तो कोई अचरज नहीं।

"हम उस खूसट के घर नहीं जातीं सूरदास! तुम क्यों आज-कल किये जा रहे हो।"

"अरे मान जाओ, रानी! ऐसी भी क्या जिद है?..... आखिर वही तो आज अपना घर है?"

"जहाँ कोई भी अपना नहीं, वह अपना घर कैसा?"

"रहने से न होगा अपना!"

"हो चुका! इतने दिन रह कर देख लिया। मन तो वहाँ रहने को उठता नहीं, बँधा कर रहेगी भी तो यह सूनी देह!"

"जैसे कि तू देह से अलग है!"

"एक दिन तो सभी को अलग होना है। हम आज ही सही!"

"हैं-हैं! ऐसी बात भी जीभ पर लाता है कोई।"

"सच बात है, सूरदास! हमारे लिए वहाँ जाना कुछ और नहीं···हम पूछती हैं, एक चुटकी सिन्दूर किसी ने माथे पर रख दिया और हम बँध गईं?"

"दस्तूर तो यही है धनिया!"

"तो चलो, तुम दो चुटकी रख दो!"

"पागल हो गई क्या?"

"बाप रे ! कितने बेटे-बेटी हैं उसके ! कोई फूटी आँखों भी देख पाता हो !"

"कुछ भी हो धनिया ! तुम्हारा कल्याण तो अब उसी के घर है।"

"कल्याण लेकर तो हम चाटेंगी ! इधर जान जो जा रही है !"

कितनी अल्हड़, कितनी चुलबुल थी वह छोकड़ी ! उस भोलेपन, उस अल्हड़पन में भी ह ज़ोर जोवन थे। प्राणों में उमगती रहती नित नये अभिसार की पुलक-लीला। आँख न रहने पर भी इतनी व्यंजना थी उसमें। आँख होती, तो जाने एक मूर्त्तिमती उल्का होती ! मगर उल्का आसमान पर जो ज़ोर बाँधे, पृथ्वी पर आते ही—वह कहीं की नहीं रह पाती। हवा में उड़ती हुई धनिया भी जब ज़मीन पर आई, तब मुँह के बल आई। इस बेजोड़ ब्याह ने उसके प्राणों को मसल कर चूर कर दिया। क्या थी, क्या हो गई बिचारी ! वह फुर्ती, वह ज़िन्दादिली जाने कहाँ उड़ गई।

धनिया एक क्षण चुप रही। फिर बोली—"हम जायँ तो, पर आने पाएँगी कभी वहाँ से ?"

"हाँ-हाँ, दो दिन बाद चली आना। तू नहीं रहती, तो समझ ले, सब सूना लगता है यहाँ !"

"हमें नहीं लगता ? तुम्हें तो राम हैं, हमें क्या है ?"

"क्यों, तुझे भी हैं बेनीराम!"

"राम कहो, वह भी कोई आदमी है?"

"राम-राम! अपने आदमी को भी कोई ऐसा कहता है?"

"भाई, जब आदमी को आदमी के लिए कोई दर्द नहीं, तो वह आदमी है या···जाने दो!"

एक छन चुप्पी। फिर सूरदास की आवाज़—"अच्छा धनिया, जब तुझे आना हो, कुछ रात-रहते चल देना। समझी न?"

"बाप रे! अकेले आना खेल है? रास्ता भी तो नहीं जानती!"

"क्यों किसी से पूछ लेना!···मगर हाँ,···अच्छा···"

और गले से किसी चीज़ के तोड़ने की पट-से आवाज़।

"यह ले, गले में बाँध रख। अब तू निडर चली आना। तेरा बाल भी बाँका नहीं होगा।"

"मगर यह है क्या?"

"हमारी आँखें जब जाती रहीं, तो गुरु महाराज ने यह जंतर हमारे गले में बाँध दिया। कहा- सूरदास! इसे पहने रहोगे तो भगवान तुम्हारी रक्षा करेंगे।"

"नहीं-नहीं, तुम इसे पहने रखो।"

"दुत् पगली! हम तो कोठी के बाहर कभी पैर भी नहीं उठाते; बहुत गए, तो पिछवाड़े के मन्दिर तक। अब क्या हमें

गाँव के मठ पर जाना है या गली-गली 'दाता की जय' पुकारनी है ?"

"नहीं भाई, तुम्हें कुछ हो गया तो···"

"रह गई तू यों ही ! आखिर ठहरी तो औरत की जात !"

और मुझे लगा जैसे सूरदास ने उसके माथे को अपनी ओर खींच, जाने क्या पढ़ कर उसके गले में वह जंतर बाँध दिया।

एकाध मिनट मौन।

इठात् धनिया ने एक भींगी आवाज में कहा—"सूरदास ! एक तुम हो, एक वह···"

"ऐसा न कह। घट-घट राम हैं धनिया ! घट-घट राम।"

फिर दो छन मौन।

"सूरदास ! तुम क्यों न हुए···"

"क्या धनिया ?"—वह भींगे गले में बोला।

"हमारे···"

और इस छोटे-से 'हमारे' पर उभर आई उसके हृदय की तमाम ममता, उसके जीवन की तमाम विफलता।

"राम की मर्जी !" सूरदास की जबान पर एक आह-सी बन कर निकली—"हाँ, धनिया ! हम भी तो कोई पराया नहीं। जब तू याद करेगी, पानी पड़े या पत्थर, हम लाठो टेकते···"

और मुझे लगा, जैसे दोनों ओर की आँखें भर आईं और भर कर उन आँखों ने कह दी उनके दिल की सारी कहानी।

अहा! नाहक आँखों के ये आबदार मोती लुटने गये! कितने अच्छे थे वे उनके मर्म की अनुभूतियों के अन्दर!

'रहते थे ज़ब्त दिल में बड़ी आबरू के साथ,
हसरत है आँसुओं पर जो आँखों से बह गये!'

इधर मेरी आँखें भींग गईं। कितना छोटा मैंने समझा था उनको? पर कितना बड़ा है उनका व्यक्तित्व? कितना उच्च, कितना पवित्र है उनका आशय? कितना सरल, कितना निष्कलंक है उनका चरित्र? आँख के अंधे, पर कैसी ऊँची चितवन? किसी कुमारी के होंठ और आँख पर खेलती मुसकान की तरह कैसा मीठा भोलापन!

बर्दे में रहे या डंके की चोट--लालसा किसमें नहीं होती? शरीर की तो सहज सहचरी है वह। मगर एक पल के लिए भी अपनी मर्यादा से लुढ़क कर वह फेनिल या मटमैली हो पाई है? और जाने कितनी रात वे साथ रहे, साथ-साथ हँसे-रोये!

मैंने एकाध बार जो कुछ देखा था, उसे अपनी मनभाई नज़र से देखा था। आज पाता हूँ, कितने ओछे थे मेरी उस नज़र के शीशे!

जिस दिन उनके मिलन का सूत्रपात हुआ, उसी दिन मेरी

अनुभूति को जाने कैसे एक रहस्य, एक रोमांस की गंध-सी लगी। वही वजह है कि मेरी अन्तर्चेतना मुझ से भी चुरा कर उस रहस्य की संभावनाओं को ढूँढ़ती चली आई। मेरी नींद के दौरान पर भी बराबर उसने एक आँख रखी और जाने क्या-क्या देखने की लालसा अपनी आस्तीन की तह में गुपचुप पालती चली गई।

आज अगर वह किसी सनसनीखेज़ अंजाम की कमी से हताश हुई है, तो जिम्मेवार वह खुद है। वह न मनमानी तसवीरें आँकती, न यों मुँह की खाती!

आप तो कहेंगे कि बैठे-बिठाये मुझे क्या पड़ी थी इन ग़रीबों के दिल की दुनिया में झाँकने की—उनकी उलझनों का अपनी खामखयाली की उँगलियों को घुसेड़ पर्दाफ़ाश करने की? मगर खता माफ़—"उलझूँ किसी दामन से मैं वो खार नहीं हूँ!" मैं तो इस शुदनी का ऋणी हूँ कि मुझे दुनिया के एक बदनाम कूचे की कुछ भीतरी हक़ीकत देखने को मिली। मैंने तो समझ रखा था कि उच्च कुल और उच्च शिक्षा का दामन थामे रहती है शील और संयम की विभूति; मगर नहीं! आज उन दोनों के व्यवहार ने मेरी आँखों में उँगलियाँ डाल दिखा दिया कि शील होने के लिए कुल होना जरूरी नहीं है, आदमी का दिल होना जरूरी है।

हम तो सेक्स को इस जीवन की किल्ली मान उसकी

ईश्वरता के ऐसे क़ायल हैं कि आज अपनी नैतिक संस्कृति की खिल्ली उड़ाने में मसरूफ़ हैं; मगर कहे तो कोई अपनी छाती पर हाथ रख कर कि मनुष्यत्व की श्रेष्ठ अभिव्यंजना अपनी वासना की रास थाम कर चलने में है या उसे ढीली छोड़ने में ?

एक वह दिन थे, जब दूध दूध था, पानी पानी। 'परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्'। एक ओर साधु, दूसरी ओर असाधु। मगर आज कहीं कृष्ण इस धरती पर जन्म लेते तो उन्हें दूध का दूध और पानी का पानी करते एँड़ी का पसीना चोटी तक आता।

आज नेकी और बदी की कसौटी दुनिया से उठ रही। वह बेकार की खामख्याली नहीं, तो क्या है ? पाप और पुण्य की दुहाई पंडितों का पाखण्ड है—पाखण्ड ! आज तो किसी की चाल-चलन के साथ इसी क़दर सवाल है कि उस पर पालिश है या नहीं; वह सभ्य है या बर्बर ? कोई भी काम बदनाम नहीं; मगर हाँ, उसे करने को तमीज़ चाहिये।

सूरदास की गिनती कभी सभ्यों में नहीं होने की। मगर दिखाए तो कोई आज का प्रगतिशील सभ्य उस गँवार के बराबर की नैतिक निष्ठा ? वह धूल में लुंठित है तो क्या, उसके दामन की तह में एक जहान का जलवा छिपा है—

"आलूदः खाक़ ही में रहने दे इसको नासिह,
दामन अगर झटक दूँ, जलवे कहाँ समाएँ !"

आज ज़माने का फ़ैशन है बाहर कुछ, भीतर कुछ, एक ओर दिखाना, तो दूसरी ओर चुराना। मगर शायद हम दुनिया को जितना दिखाते चलते हैं, उससे कहीं ज्यादा उससे चुराकर चलते हैं। हमारी चुस्ती और फुर्ती, हमारी कला और प्रतिभा तो सामने है—हमारी वासना और कामना पर्दे में। दुनिया की निगाह हमारे सर के तुर्रे पर, हमारे ललाट के तिलक पर, हमारी मूछों की ऐंठ पर, हमारे सीने के तमगों पर तो अनायास टूट कर जाती है, पर हमारी मखमली आस्तीन की तह में कैसे-कैसे चोंचलें, कैसे-कैसे हथकण्डे छिपे-के-छिपे रह जाते हैं! वे कहीं सामने आते, तो फिर तमगे और सितारे कबतक चमक पाते!

सूरदास के पास किसी को कुछ दिखाने को न था। मगर साथ-साथ किसी से कुछ चुराने को भी न था। वह जो भीतर था, वही बाहर; जो बाहर था, वही भीतर।

मैंने चादर की लपेट से मुँह खोला तो देखा, सूरदास के पैर की सुपालियों पर माथा टेके धनिया चुप पड़ी है और सूरदास रह-रह कर उसके सर पर हाथ फेर रहा है। दीवाल-गीर की पतली लौ हवा में काँपती-झिपती-सी साफ बता रही है कि उस हाथ के संचालन में आशीर्वाद की मुद्रा है, किसी कामना की उद्दीपना नहीं।

हाय! इस स्नेह की अंजलि में एक हृदय की कैसी निर्विड़

वेदना का आशीर्वाद है! उन उँगलियों की पोर-पोर से जैसे चुई पड़ती है किसी के अन्तर की तमाम ममता।

और उसी वेदना, उसी ममता के भीतर उसकी उँगलियाँ अपने सारे जीवन का पाथेय और रस संचय कर गईं तो अचरज क्या?

और धनिया उस परस के रस में विभोर छकी-सी, लुटी-सी पड़ी है। जाने क्या सोच रही है चुपचाप। कहीं मन-ही-मन मिन्नतें तो नहीं कर रही है कि यह रात, यह परस कभी शिथिल न हो; इसी के तले जीना, इसी के तले मरना·····

मगर कैसी दर्दनाक है यह रात! आज की रात तो हर रात-सी रात नहीं। यह रात तो उत्पात की रात है। ऐसी रात तो अपनी आस्तीन में तूफान चुराए आती है किसी के दिल की दुनिया को उथल-पुथल कर धर देने—'कछु और संयोगिनि के मन पै, कछु और वियोगिनि के मन पै!'

अहा! कैसी इसरत-भरी है बरसात की यह सुहागरात! वर्षा का यह प्रथम अभिसार! यह आषाढ़ की घुँघराली घटा, यह रिमझिम वर्षा, यह ठंढी हवा कुछ यों ही तो नहीं आई है! मगर हाँ, सूरदास के दिल के पहलू पर कुछ जोर चला इनका? उसके हाथ की रविश में किसी हद तक इनका भी हाथ रहा, तो सहलानेवाली उँगलियों की लीला कुछ और

होती। वह सर पर चक्कर काट कर नहीं रह जातीं, गले की परिक्रमा करतीं और आगे कदम बढ़ातीं।

वे शायद ऐसे तन्मय थे कि उन्हें पता न था कि रात अब ढलने को आई है। आसमान पर बदलियाँ न होतीं, तो पूरब की ओर पौ फटने की रेखा जरूर उभर आती। मुझे यह खटक लगी कि कहीं कोई देख लेगा, तो उसे अच्छाई तो नजर आएगी नहीं, चट दीख जायगी बुराई। जब हम इतने निकट रहकर भी कितनी बार भूल कर बैठे, तो फिर दूसरा तो कितनी दूर है! वह जब देखेगा, तो अपनी नजर से देखेगा और अक्सर यह नजर ही तो हमारी आँख पर परदा है।

मैंने चाहा कि आवाज़ देकर उन्हें सचेत कर दूँ। पर कैसे कहूँ और क्या कहूँ, इसी उधेड़-बुन में कोई किनारा ढूँढ़ ही रहा था कि भजुआ जाने कहाँ से टपक पड़ा और बेतहाशा सूरदास की पीठ पर जूते की ठोकर देकर मारा!

"क्यों बे उल्लू के पट्ठे! यही खींच रहा है पंखा तू? यहीं मालिक सो रहे हैं और तू एक पराई औरत के साथ....."

उसकी नीयत तो यह थी कि मालिक सोए भी हों, तो इसी हंगामे पर जग पड़ें और अभी सूरदास को जूतों के हाथ फाटक के बाहर निकालने का हुक्म दें।

मैं धड़फड़ पलंग से कूद पड़ा और भजुआ का गला थाम उसे धक्के देकर कोठी के बाहर निकाल देता अगर सूरदास

मेरा रुख देख मेरे पैरों से लिपट न जाता। भजुआ तो ऐसा सिट हो गया कि वह समझ न सका कि मालिक उलटे उसपर क्यों उबल पड़े। मेरे पंजे से उसका गला जो छूटा, तो वह जलती आँखों से सूरदास को घूरता हुआ बरामदे से कूद खंभे की आड़ में छिप गया।

मैंने सूरदास की ओर मुड़ कर कहा—"तुम समझते नहीं सूरदास! यह भजुआ तुम्हारे पीछे पड़ा दीखता है। जैसा शैतान है वह·····अगर यहाँ रहा तो·····"

"ना ना, मालिक! हम तो किसी को भी इस धरती पर ऐसा नहीं पाते···क्या कहें···जाने कैसे रह-रह कर जी चाहता है कि उसे गले लगाकर रोएँ।"

यह खूब! बायें गाल पर चपत पड़ी तो दाहिना हाजिर। ऐसी क्षमा-सुन्दर करुणा; ऐसी अयाचित आत्मीयता! और, एक दिन इसी फूहड़ भजुआ की परिछाहीं से भी वह नाक-भौं सिकोड़ता रहा। उसके हाथ की छोरी छूने में भी उसका ईमान काँपता था। तो क्या आज आचार की मुट्ठी से खुल कर दिल निकल आया?

मैं लगा सूरदास को गौर से देखने। देखा, वह कुछ ऐसे आवेश में चूर है कि उसे पता तक नहीं कि उस पर क्या गुजर गया!

"सूरदास! तुम्हें औरों के लिए आज इतना दर्द है, पर

अपने लिए एक बूँद भी नहीं ? आखिर तुम भी तो एक वही हो जो सब है !"

"सरकार ! हम तो राम के दास हैं और राम घट-घट है—

'सियाराम मय सब जग जानी।
करौं प्रणाम जोरि जुग पानी' ॥"

"तो वह तुम में भी बराबर है। तुम्हें अपनी सेवा भी जरूरी है !"

वह मुँह फाड़ कर रह गया। कह नहीं सकता, उसे यह दलील लगी या नहीं। एक छन रुक कर बोला—"हम तो उसे बराबर दास-भाव से देखते आए सरकार !"

देखा, उसकी आँखें छलछला रही हैं—गो उनमें कुछ रंज और मलाल के आँसू नहीं ! एक अजब आलम है उसके चेहरे पर जिसे बेजान लेखनी अदा नहीं कर सकती।

मैंने झुक कर पूछा—"यह तुम्हें क्या हो गया है जी ?"

"क्या बताऊँ मालिक ? जाने कैसे, इस अंधे शरीर की आँखें तो आज खुल गईं। दीखता है घट-घट राम।···धन्य हो प्रभु···धन्य तुम्हारी महिमा·····"

पानी लगा पीटने। काफी मूसलधार। छींटे उड़-उड़कर सायबान पर आते हैं। पानी की बूंदें सूरदास के नंगे सर पर झमक रही हैं। कुछ दूर अलग धनिया सिटपिटाई हुई किवाड़ की

आड़ खड़ा है। उसका चेहरा कुछ तमतमाया-सा हो रहा है और उसके सिंदूर-भरे होंठ जैसे धधाकर भभक रहे हैं। भजुआ खंभे की आड़ दुपट्टे से मुँह दाबे दुबका-सा खड़ा है। और इधर उस बरसाती फुहार में सूरदास ऐसा गुलफुल है जैसे कि आसमान फूलों की अँजुलियाँ उझल रहा है उसके सर पर। वह तो जाने किस अलौकिक प्रेम की रिमझिम में शराबोर है और उसका एक-एक अंग मुस्कुरा रहा है।

अजब करामात है इस मन की! वह हंसा तो दुनिया हँस पड़ी। मन से नक़ाब उठा और उठ गया दुनिया के चेहरे से नक़ाब। जिसे देखो, वही गुलफुल है। दिल बाग़-बाग़ है, तो गली-गली गुलजार है। इस मन की माधुरी की गुलाबी पीकर विश्व का जर्रा-जर्रा नाच उठा। आसमान चहका। बाग़ महँका। कलियाँ खिल गईं। बादल रिमझिम गाने लगे। फुहार फूल हो गई। तूफान पानी हो गया। क्या धरती, क्या आसमान—'जरा जो वह मुस्कुरा दिए हैं, ये सब-के-सब मुस्कुरा रहे हैं!'

और सूरदास ने भजुआ के गले में हाथ डाल कहा—'चल भाई, चल!'

वाह! आज क्या है कि क्षोभ की जगह क्षमा, घृणा की जगह करुणा आ गई! तो भजुआ की लात भी भृगु की लात हो गई क्या?

भजुआ तो भौंचक-सा हो गया है जरूर, पर उसकी जलती निगाहें ज्यों-की-त्यों हैं। उसका वश चलता, तो वह सूरदास को जाने क्या कर बैठता! एक अजब कशमकश में पड़ वह आगे बढ़ चला और उसके पीछे चला सूरदास गुनगुनाता—

"सखी, इन नैनन में चहुँ राम।
क्या चर क्या खग मृग क्या किन्नर क्या अछूत बदनाम
क्या धरती क्या तारामण्डल क्या सुरधाम ललाम।"

मेरा मन फिर भींग उठा। हाय रे सूरदास! यह पद तो तुमने पहले भी गाया होगा, पर कभी आज की तरह अमल भी किया था इस पर? आज किस गंगा में धुल कर वह भजुआ गधे से बछेड़ा बन गया? तुम्हें पता है कि आज तुम्हारे अन्तर में यह किस देवता का आविर्भाव, किस गुरुमंत्र का प्रभाव है कि दुनिया यों सिमट कर आ गई तुम्हारी छाती के भीतर? कोई भी पराया नहीं दीखता! घट-घट राम के दर्शन हैं आज! किस प्रेरणा के उत्ताप से फूट कर आया है करुणा का यह विप्लवी प्लावन! तुम्हारी प्राणों में यह अनजान अननुभूत आनन्द-गुंजन! काश तुम्हारी चेतना इस रहस्य की टोह तुम्हें दे पाती!

अबे अंधे! यह करिश्मा तो दिल की दुनिया का है, कुछ राम की महिमा का नहीं! जानते हो, उस रामी धोबिन की लौ नहीं लगती, तो चंडी दास कभी घट-घट में कृष्ण देख पाते?

उनके गले से गान फूट पाता ? वह करामात तो रामी की जादू-नजरी थी, कुछ कन्हैया की बाँसुरी नहीं। और, तुम यहाँ भी गाने चले हो राम का गुण ? गाओ ! 'काम करती है नजर, नाम है पैमाने का !' मगर मैंने कहा—भाई मेरे ! कहाँ दिल की लगी, कहाँ दिल की लगन ! यह और, वह और ! आज तुम्हारे मन की पौर पर दिल खोल यह यों लोट न जाती, तो तुम 'राम-राम' रटते रह जाते अन्धे के अन्धे ! तुम्हारा न दिल उमड़ता, न आँखें खुलतीं।

सच मानो सूरदास ! आज मैंने तुम्हारे दिल का पता पा लिया। आज वह तमाम बाधाओं को तोड़ खुले हाथों यों लुटाने पर तत्पर न होता, तो मैं उसके अस्तित्व का अनजान-का-अनजान ही रह जाता। इतने दिनों तक वह नैतिक आचारों की कट्टरता के तले जाने कहाँ सिमटा पड़ा था। संभव है, उस चपकलिश में पड़े-पड़े भी, तुम्हारे जाने-अनजाने किसी को कुछ देने के लिए उसने जब-तब अपनी अंजली भरी हो, मगर शायद वैष्णव पाबन्दी की मजबूरियों ने हर बार हाथ झटक दिये और वे दाने बिखर पड़े। फिर भी एकाध कण किसी और को मिले या न मिले, धनिया के हृदय तक तो लुढ़क कर पहुँच ही गये होंगे। यह बात न होती, तो पंखे की डोरी से गला बँधाने में वह किसी मुक्ति का स्वाद नहीं पाती !

मैं पूछता हूँ, चेतना के छोर से फिसल कर किसी और के

दिल की तरंगों में दो पल डुबकियाँ लेने का अनुभव हुआ है आपको ? उसके दिल में हाथ डाल वहाँ की हिलोरों की गहराई की थाह लेना तो और है—मेरा मतलब उसकी अनुभूतियों से मिलकर एक हो जाने से है—कुछ इस तरह कि मैं भूल गया अपना अस्तित्व और वह हो गया मैं।

और उस छन मुझे लगा कि मेरी निगाहों के सामने से एक परदा उठ गया। मैं नाहक भजुआ का गला टीपने गया। उससे भूल हो ही गई तो आखिर किससे भूल नहीं होती ? मैं ही क्या उससे कुछ बरी हूँ ? तो फिर औरों की ग़लतियों पर आँख मूँद नहीं पाते, तो आँख तरेरने से तो बाज़ आवें !

पानी का जोर बढ़ा। जैसे कि आसमान आज ही पुर्जे-पुर्जे फटा चाहता है। बड़ी-बड़ी बूँदें—हर-हर मूसलधार। वैसी ही हवा की सर्राहट। वैसा ही बादलों का चीत्कार।

शाम होने पर आई। अँधेरा उतर आया। मगर तूफानी तेवर में उतार न आई। वही ताव, वही फुफकार। वही भृकुटी, वही आँधी-पानी।

और इधर मन्दिर में एक उत्सव का प्रोग्राम। पुजारीजी ने हमसे भी कल 'हाँ' करा लिया था। अब जबान देकर कैसे न जाता! वह क्या कहते कि कैसे हैं यह! जाना ही पड़ा। गनीमत है कि दूर न था। सूरदास तो सुबह ही जा चुका था। भजन गाने के प्रोग्राम में उसे भी एक जगह थी। गले की तैयारी तो खैर, उसकी कोई मार्के की न थी, पर भजन के

रेयाज पर वह अपना हृदय उँड़ेल कर धर देता। उसकी सूझ-बूझ कुछ भी हो, गले में था दर्द।

मिटठू दो दिन की छुट्टी लेकर घर गया था। बुलाकी को साथ लेकर मैं सबेरे-सबेरे मंदिर पर चला गया। आज वहीं प्रसाद पाना है। आधी रात के पहले लौटने की उम्मीद नहीं।

आठ बजे गाने-बजाने का प्रोग्राम शुरू हुआ। एकाध गवैये आ न पाये। उन्हें दूर से आना था। इस तूफान में कैसे आते! जल-थल एक हो रहा है।

सूरदास के मत्थे एकाध भजन और आये। वह हद से ज्यादा विचलित हो चला था। घर बैठे एकाध भजन गा लेना और है, गवैयों के गिरोह में शामिल होना और। आज उसे बड़ों में बैठने की एक बालिश्त जगह मिल गई; इसी सुयोग पर वह अपने आपे में न था। वह क्या जाने सुर या ताल कि ऐसे अखाड़ियों के पहलू में ताल ले सके!

बार-बार उठकर हमारे पास आ गिड़गिड़ाता—"मालिक, नाम तो नाहक दे दिया चौबेजी ने। हमसे तो गला खोलना·····"

उसका नंबर आ चला। उठकर मेरे पड़ोस में आया। जाने क्या कहना चाहा कि हठात् पानी में भींगता मँगरू जाने कहाँ से फट पड़ा। वह तो इधर कई दिनों से बीमार था। इस तरह उसे यहाँ देख मेरा माथा ठनका!

मैंने अलग उठकर पूछा—"तुम कैसे मँगरू ?"

"सरकार ! बेनीराम धनिया का झोंटा थाम जाने कहाँ खसीटे लिए जा रहा है इसी पानी में।"

"क्यों, कल तक रुका क्यों नहीं ?"

"भज्जू जाने क्या जड़ आया है उससे ! वह पीकर भूत है। बिचारी पर वह लात-जूते पड़े कि क्या बताऊँ मालिक ! अधमरी-सी हो गई वह। चलते वक्त रो-रो कर कहती रही कि सूरदास कभी का ऐसा नहीं। तुम उससे पूछ कर सफाई कर लो। सूरदास को ढूँढ़ा भी उसने, मगर भज्जू ने कह दिया कि मालिक ने उसे धक्के देकर निकाल दिया। वह रह-रह कर खोजती रही सूरदास को और……"

"तो यहाँ आकर किसी ने खबर क्यों नहीं दी ?"

"कोई है भी कोठी पर ? रसोइया भी तो घर चला गया।"

सूरदास की पुकार शुरू हुई ! मगर यह लो ! सूरदास तो जाने कहाँ निकला जा रहा है ! सीढ़ियों से उतर आँगन में आ पड़ा है। हाथ में लकड़ी तक नहीं, सर पर न छाता न कम्बल। कहीं मँगरू की बात उसे लगी तो नहीं !

मैंने पुकारा—"सूरदास ! कहाँ चले ? सुनते तो जाओ !"

लेकिन कौन सुनता है ?

चौबेजी ने दौड़ कर उसका हाथ पकड़ा—"अरे भाई, वह भजन तो गाते जाओ। एक ही सही।"

उसने एक झटके-से अपना हाथ छुड़ा लिया। जाने कहाँ का बल आ गया था उसमें!

मैंने बुलाकी से कहा—"उसे जाकर मना तो लाओ। वह अकेला जाने कहाँ भटक पड़े!"

"सरकार! वह जायगा कहाँ! मियाँ की दौड़ मसजिद तक। कोठी पर जाता होगा।"

बुलाकी हिला नहीं। इस आँधी-पानी में कौन ढूँढ़ता फिरे! इधर देखते-देखते इसी तूफ़ानी अँधियारी में सूरदास गुम हो गया।

❀ ❀ ❀

आज जाने कितने साल गुजर गये। सूरदास जो उस बरसाती रात में भींगता गया सो गया—लौटा नहीं। हमने उसे ढूँढ़ निकालने की लगातार कोशिश की, कुएँ में बाँस तक डाले गये, पर कहीं कोई पता न चला। बुलाकी भी एकाध जगह दौड़ा, पर यह कह कर तसल्ली कर ली कि वह तो पहले से ही जानता रहा कि बाप की तरह उसकी जान भी किसी औरत के पीछे जायगी। मँगरू की बातों से जाने क्या उबल पड़ा। वह धनिया को उस ज़ालिम के पंजे से छुड़ाने चला या बेनीराम की आशंकाओं का चटपट दफ़ारफ़ा करने को दौड़ पड़ा—जो कुछ भी हो, वह ऐसे तैश में था कि उसकी तमाम सुधबुध हिरण हो गई थी। कहीं पिच गया

या किसी बरसाती नाले में डूब कर बह गया, कहीं कोई खबर न मिली। कौन कहे, दुनिया तर्क कर कहीं जंगल-पहाड़ की ओर चल पड़ा अपने प्रियतम सियाराम की तलाश में!

कोई दस दिन बाद धनिया जाने कैसे आधीरात को अपने ससुराल के पंजे से छूट कर फिर चली आई। किसी की कोई खबर उसे न मिली। सुना, वह इस हैस-बैस में थी कि मँगरू ने उसका सन्देशा सूरदास से कहा या नहीं। बेनीराम ने बिचारी से कहा भी नहीं कि सूरदास गुम है और उसे तलाशने को मँगरू दूसरे ही दिन भोर में उसके यहाँ आया था। मँगरू के आने की खबर भी उसे नहीं मिली और ससुराल में उस पर जो गुजरी, उसे वही जानती है।

सूरदास का गुम होना सुन कर वह घंटों उस मालती-तले गुमसुम बैठी रही। फिर एकाएक गले से वह कंठी खोल, लगी सिसक-सिसक कर रोने--'हाय! न मैं उसकी कंठी लेती और न बिचारे पर कोई आफ़त आती!' रोती-रोती वह पगली-सी हो गई। उसे जाने कैसे यह धुन सवार हो गई कि वह सूरदास को, जहां होगा वहाँ ढूँढ़ लेगी और यह ताबीज वापस कर देगी।

किसी की फबती की या किसी की त्योरी की एक तिल भी जगह न रही उस टूटे हुए कलेजे के भीतर। वह कुछ ऐसी हो

गई कि देखते डर लगता। कोई उससे कह भी नहीं पाता कि संभव है, सूरदास अब इस संसार में नहीं रहा। एक तो वह अपने विश्वास के खिलाफ़ किसी की कुछ सुनती नहीं, दूसरे ऐसा कहनेवाले के साथ जाने वह क्या कर बैठती!

एकाएक एक रात वह भी गुम हो गई। कहाँ गई; किसी को पता नहीं।

महीनों बाद, बुलाकी ने एक दिन आकर कहा कि धनिया सूरदास को तलाशती हुई उसके गाँव के मठ पर गई थी। जब पता न चला, तो उलटे पाँव जाने किधर निकल गई। राम जाने, सूरदास को वह उसकी कंठी वापस कर सकी या आज भी उसी तलाश में डोलती फिरती है।

कौन कहे, कहीं इसी खोज में वह खुद खो गई हो। संभव है, यह ढूँढ़ते-ढूँढ़ते उस राह पर आ पड़ी हो जिसके आगे कोई राह नहीं—जहाँ ढूँढ़नेवाला खुद ही गुम हो जाता है। और जब उसे अपना ही पता न रहा तो फिर उसका पता कोई क्या ले!

"बहुत ढूँढ़ा उसे फिर भी न पाया
अगर पाया, पता अपना न पाया"

❀ ❀ ❀ ❀

आज तो मालती का झोंप सूना पड़ा है। उसके इर्द-गिर्द कँटीले जंगल उग आए हैं। तले की धरती भी बरसों की

बेकारी से खुरखुरी हो गई है। बुलाकी ने शायद सूरदास की याद में एक मैना पाल रखी है, जिसका पिंजड़ा उसने मालर की उसी डाल पर लटका रखा है जिस अरगनी पर सूरदास को झोली रहती रही। अक्सर गोधूलि की बेला जब किसी उत्तेजना पर वह मुखर मैना लगती है रटने 'जय सियाराम' तब मैं कहीं भी रहूँ--सायबान में या कोठी के अन्दर--पलकें भींग आती हैं और अतीत की वह दर्दनाक तसवीर सिनेमा की रील की तरह लगती है आँखों में फिरने।